गीता गंगा



• लेखक •

डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय
विद्यावारिधि न्याय-व्याकरणाचार्य
भू. पू. प्राचार्य : सं. म. वि. झलोखर, हमीरपुर

प्रकाशक : डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय, रंगमन्दिर वृन्दावन

संस्करण : प्रथम, ५०० प्रतियाँ

तिथि : मेष संक्रान्ति १३ अप्रेल

मुद्रण-संयोजन :
श्रीहरिनाम प्रेस, हरिनाम पथ, लोई बाजार, वृन्दावन - 281121
दूरभाष : 0565-2442415

विषय-सूची

गीता गंगा

(द्रुतविलम्बिता)

व्याख्या-भाषाभावार्थ संबलिता

प्रथमोऽध्यायः

जयति तत्परमम्भगवत्पदं यत उदेति यतश्च जगगत्स्थितम्।
विनयते भविनो बहिरन्तरा श्रितयरा अथ यत्करुणापरा।।१।।
ग्रन्थारम्भेऽधीतिनां निर्विघ्नतत्त्वबोधाय
परमम्भगवत्तत्वं निर्दिशन् मंगलं तनोति तनोति जयतीत्यादि।

व्याख्या-तत् श्रुतिप्रसिद्धम्परमं नित्यं निर्विकारम्, भगवतः परमेश्वरस्य परब्रह्मणः, पदं स्वरूपं, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, कथम्भूतं तत् ? यतः यस्मात् जगत् अनन्ताश्चर्यमयः संसारः, उदेति उत्पद्यते, यतः यस्मिंश्च सर्वाधारभूते तत्त्वे, स्थितम् विद्यमानञ्च वर्तते, यच्च भविनः संसारस्थितान् प्राणिनः, बहिः जडार्थैः, अन्तरा मध्ये अन्तःकरणे चेतनस्वरूपे च, विनयते निजसंकल्पानुसारम्प्रवर्तितुं शिक्षयति। अथ तस्य अयं च। विशेषः परा महाकार्यकरी, यत्करुणा यदीय दया, श्रितपरा निरहंकारभक्तशरणागतविषयिणी, तदीयपुरुषार्थसाधिका, भवतीति शेषः।

भावार्थ-ग्रन्थ के आरम्भ में परमतत्त्व परमात्मा को एवं उनके सर्वोत्तम स्वभाव को प्रस्तुत करते हुए मंगलाचरण करते हैं ताकि पढ़ने वालों को अनायास यथार्थ बोध हो और ग्रन्थ का प्रचार भी हो। जिस परमतत्त्व परमात्मा से यह जगत् उत्पन्न होता है, एवं जिसमें स्थित रहता है, जो संसारी जीवों को बाहर और भीतर से अपने संकल्प के अनुसार चलाने के लिए शिक्षित करता रहता है, और जिसकी दया भक्तिनिष्ठ निरहंकार शरणागत सत्पुरुषों पर अधिक फलती है वह परमतत्त्व सबसे श्रेष्ठ है। हम उसी को समझने और प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

जयति भारतभूरथ गोकुलं जयति यत्र चचार परोऽप्यलम्।
नरशिशुत्वमुपेत्य महीराजः-शबलितो बिरजा मृदि सादरः।।२।।

व्याख्या-अथ मङ्गलम्भारतदेशोत्कर्षं निर्दिशति, यत्र परः परमात्मा अपि, विरजा रजोगुणशून्यः शुद्ध सत्त्वमयः अपि, मृदि निज-भक्तिहेतौ मृत्तिकायाम्, सादरः श्रद्धावानिव, नरशिशुत्वम्मानव तोकभावम्, उपेत्य लब्ध्वा, महीरजःशबलितो धूलिधूसरिताङ्गः सन्, अलम्प्रचुरम्, चचार। सा भारतभः जयति, अथ तत्रापि गोकुलं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते।

भावार्थ-अब भारतभूमि का उत्कर्ष बतलाते हुए मंगल करते हैं, वह भारतभूमि और उसमें भी गोकुल क्षेत्र संसार में सबसे श्रेष्ठ है। जहाँ रजोगुण से रहित शुद्धसत्त्वमय परमात्मा भी मनुष्य का बच्चा बनकर यहाँ की मिट्टी को आदर देते हुए धूल से लिपटकर इच्छानुसार विचरण करते रहे।

जयति धर्ममयी धरणी च सा स्वजनरागमपास्य यतोऽर्जुनः।
निजजनानपि धर्मविरोधिनो निहतबान्थृतकेशवशासनः।।३।।

व्याख्या-यत इति हेतौ पंचम्यर्थे तन्त्रेण सप्तम्यर्थे च तसिल्।

भावार्थ-अब गीतोपदेश और धर्मयुद्ध के लिए प्रसिद्ध एवं राग का त्याग कराकर धर्मकृत्य में लगाने वाले कुरुक्षेत्र का वर्णन करते हैं कि धर्मप्रधान वह भूमि (कुरुक्षेत्र) विश्व में सबसे श्रेष्ठ है जहाँ पहुँचकर अर्जुन ने भगवान् केशव का गीता आदेश स्वीकार कर आत्मीय लोगों से अपना राग सर्वथा मिटाकर धर्मविरोधी अपने लोगों को भी सम्मुख युद्ध में मारा।

स च रथो यतिवर्गमनोरथो जयति यत्र हरिः श्रुतिसङ्ग्रहम्।
गदितवान्विहताखिलसंशयमभवति कर्म यतो भवमुक्तये।।४।।

व्याख्या-भगवता कृष्णेन नीयमानोऽर्जुनरथो अत्र यतिवर्गमनोरथतादात्म्येन स्तूयते। हरिर्भक्तयोगिजनमानसैकलक्ष्यो भगवान् स रथो मुमुक्षुभिः श्रद्धया सदा हयेय रति तात्पर्यम्।

भावार्थ-भगवान् ने कुरुक्षेत्र में युद्ध शुरु होने पर अपने अनादि गीताशास्त्र का जिस रथ पर विराजमान होकर उपदेश किया था उसकी स्तुति कर रहे हैं कि वह रथ जो कि भक्तयोगियों के शुद्ध चित्त के सर्वथा तुल्य है, जिस पर भगवान् प्रत्यक्ष रूप से सबको दिखाई पड़ते हुए अनादि उस गीता शास्त्र का उपदेश सभी संशयों का निवारण करते हुए किया था जो कि सभी वेद-वेदान्तों का निचोड़ है जिसके ज्ञान से वही कर्म संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाता है जो स्वयं संसार-बन्धन का कारण माना जाता है।

जयति तत्त्वधियां श्रुतिशीलिनामविरता गुरुवर्यपरम्परा।

फणियतिर्बहुशास्त्रपरम्परापतिरुपैति जयाय यदन्तरा।।५।।

भावार्थ-विश्व सृष्टि में असाधारण अपनी गुरुपरम्परा की स्तुति करते हैं कि जिनकी बुद्धि सहज ही सृष्टि के यथार्थ तत्त्व को नहीं छोड़ती और जो वेदों का परिशीलन करते रहते हैं ऐसे आचार्यों की परम्परा जो भगवान् से शुरु होकर अभीतक लगातार जारी है, जिसके अन्दर अनेक शास्त्र-धाराओं के एकाधिकार निर्वाहक स्वामी शेषजी अपने विजय के लिए स्वयं पधारते हैं वह गुरुपरम्परा विश्व में सर्वश्रेष्ठ हैं।

निगडबन्धनतो निरमोचय-त्स्वपितरौ निजदर्शनतो हरिः।
सततचित्रचरित्रपरः स्वयं स इदमाह रहस्यमुपेयुषाम्।।६।।

व्याख्या-उपेयुषां शरणागतानाम् भक्तानां कृते, इदम् उच्यमानम्, रहस्यं गीताशास्त्रं, स्वयं स्वेच्छयैव स्वमुखेनैव, आह निगदति, तत् पुण्यशीलैः अवधार्यताम्।

भावार्थ-जिन भगवान् श्रीकृष्ण ने जेल की बेड़ियों में बन्धे अपने माता-पिता को अपने दर्शनमात्र से छुड़ा दिया जो आजीवन लगातार आश्चर्यमय लीलायें करते हुए अपने इस गीता शास्त्र को जो कि वेदों में छिपा रहता है उसे अपने शरणागत भक्तों के लिए कहा है।

भगवता भणितं सुहृदे शुभै रसमयैर्वचनैरमृतं हितम्।
सरलसंहृतविस्तृतवाग्गतं-तदनुभूय सुखं लभतां सुधीः।।७।।

व्याख्या-रसमयैः प्रीतिभरितैः, संहृतविस्तृतवाग्गतम् संहृता बह्वर्थाऽपि संक्षिप्ता अल्पपदा, विस्तृता उत्तरबोधपर्याप्ता असाधारणी वाक्, तत्र गतम् अद्यापि अवस्थितम्।

भावार्थ-भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय मित्र अर्जुन को सुन्दर प्रेमपूर्ण बचनों से हित, मोक्ष साधनों और अमृत, मोक्ष का प्रतिपादन बहुत ही सरल, अपेक्षित संक्षेप और अपेक्षित विस्तारयुक्त वाक्यों में कहा है। कोई भाग्यशाली विद्वान् उसके भावों का अनुभव कर आत्यन्तिक सुख, मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जगदनुक्षणरक्षणकेलिना रणमुखेऽपि जनेषु दयालुना।
भगवताऽर्जुनताप्रथनार्थिना निगदितं कुशलाः कलयन्त्वलम्।।८।।

व्याख्या-अनुक्षणरक्षणकेलिना, अनुक्षणं निरन्तरं, रक्षणं चेतन कर्मानुकूल्येन अवस्थापनं, केलिः क्रीड़ा रसमयसहजव्यापारो, यस्य स, तेन तथोक्तेन, रणमुखे युद्धरम्भे कोपहेतावपि, जनेषु सर्वेषु भीष्मद्रोणादिषु विपक्षभूतेषु अपि,

अर्जुनताप्रथनार्थिना, अर्जुनता सत्त्वप्रधानता, तस्याः प्रथनम्प्रख्यापनम्, अर्थः प्रयोजनं, यस्यासौ तथोक्तः, तेन।

भावार्थ-जिस परमात्मा के लिए संसार को प्रतिक्षण अपने संकल्प के अनुसार, चेतनों के कर्मों के अनुसार बनाये रखना खेल के समान सुखद और सहज है, और जो युद्ध आदि अवसरों पर भी चेतनों पर समान रूप से दया रखते हैं उन्होंने अर्जुन को अर्जुन अर्थात् धवल परमसात्त्विक रूप में प्रसिद्धि दिलाना चाहते थे। उन्होंने युद्धभूमि में गीताशास्त्र को सारे संसार के समक्ष अर्जुन को जो बतलाया उसे शास्त्रीय कौशल रखने वाले सत्पुरुष अच्छी तरह समझ सकते हैं, समझें।

श्रुतिरहस्यमिदम्भगवन्मुखात्
करुणया गलितं सुहृदा धृतम्।
समनुयोगसमाहितिमंजुलं
सुकृतिनः कलयन्ति निराकुलम्।।९।।

भावार्थ-यह गीताशास्त्र वेदों का गूढ़ रहस्य है, यह भगवान् के मुखारविन्द से दयावश निकल पड़ा है जिसे मित्र अर्जुन ने ठीक से समझा जो अनेक प्रश्नोत्तरों से रमणीय हो गया है। इसे अनायास ही समझा जा सकता है फिर भी देखा जाता है कि पुण्यशील महापुरुष इसे रूप में समझ पाते हैं दूसरे लोग सन्दर्भ विरुद्ध अर्थ लेते हुए इसे अस्त-व्यस्त करते रहते हैं।

विभवलुब्धनिरीक्षणभूपिति-
र्न खलु वेद परोऽस्ति जगत्पतिः।
तदपराधिसुतान् सुखितानसौ
समनुवांछति मोहमहोदधिः।।१०।।

व्याख्या-निरीक्षणः अन्धः, तद् तस्मात् कारणात्, अपराधिसुतान् अपराधरतान् पुत्रान्।

भावार्थ-धृतराष्ट्र जन्म से अन्धा था उसकी भीतरी आँख (बुद्धि) भी नहीं थी। वह राज्यवैभव के लोभ में पड़ा था। वह नहीं समझता था कि सारे विश्व का स्वामी कोई और है, मैं नहीं हूँ, इसी से वह सदा अपराधों में लिप्त अपने पुत्रों को भी बराबर सुखी रूप में पाना चाहता था, वास्तव में वह मोह का महान् समुद्र था।

स्वजनिताः स्वत एव विनाशिनः

सकलभावजनिर्मृतिसंगता।
इति मतिर्बहिरीक्षणवैभवात
स्वविषयेऽस्ति सतामपि वारिता।।११।।

भावार्थ–अर्जुन के मोह से गीताशास्त्र का आरम्भ होता है। उसका मोह ही स्वजनों के विनाश की कल्पना से विषाद का रूप ले लेता है मोह क्या होता है ? स्वयं का अज्ञान। अपने आप को न समझना अविद्या कहा जाता है यह आगे चलकर और चार अवस्थाएँ लेती है वह शरीर में ही अहम् बुद्धि कराती है। शरीर में अहम् बुद्धि बहुत से हित कर्तव्यों में बाधक हो जाती है। अर्जुन को अपने मरने का डर तो नहीं है किन्तु अपनों के मरने का डर है। यह डर तत्त्व दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में लगभग ऐसा ही है जैसे कोई सम्राट् किसी धर्मयुद्ध में उतरकर यह सोचने लगे कि मेरे इन बहुत से सैनिकों के सुन्दर मुकुट, कटक कुण्डल आदि आभूषण और रत्नमय चमकीले परिधान गन्दे हो जायेंगे, इनमें खून लग जायेगा, इनमें धूल पड़ जायेगी इनकी शोभा बिगड़ जायेगी इसलिए युद्ध रोक दिया जाय। इस स्थिति में सम्राट् का विवेक सर्वथा नष्ट हो चुका रहता है। उसे वीरों के स्थान पर उनके वस्त्राभूषणों में मोह होने लगता है। वह भूल ही जाता है कि सुन्दर वस्त्राभूषण कर्तव्य के निर्वाह के लिए होते हैं न कि कर्तव्य रोकने के लिए, कर्तव्य के समय उनकी शोभा की परवाह नहीं की जाती। लगभग यही स्थिति परम सात्त्विक धर्मशील किन्तु आत्मीयता और श्रद्धा के मोहरूप में परिणत हो जाने के कारण वर्तमान स्थिति में कायर अर्जुन की हो गयी है।

प्रस्तुत श्लोक में सामान्य रूप से मोह की व्यापकता बतलायी गयी है। श्लोक का भाव है कि प्रत्येक वस्तु, जिसका जन्म होता है वह अपनी स्वाभाविक मृत्यु को लेकर ही आता है। जैसे वस्त्रादि जड़ पदार्थों का नाश अनिवार्य है वैसे प्राणवान् शरीर का विनाश भी देखा जाता है। सृष्टि में कोई भी अमर नहीं हुआ है, सभी मरते हैं और काल पूरा होने पर ही मरते हैं, उनके मरने का निमित्त भी पहले से बना होता है। किन्तु आत्मदृष्टि के विपरीत सदा बाहरी दृष्टि से प्रभावित है तो उसे भी अनिवार्य रूप से मोह होगा। वह अपने नाशवान् शरीर को बचाने के लिए महत्त्वपूर्ण कर्तव्य से भाग जायेगा। यह बाहरी पदार्थों में मोह का प्रभाव होता है यही मोह अर्जुन को युद्ध के समय हो गया था। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण यह देख रहे थे कि आततायी मरने के लिए तैयार हैं। वे मौत के सिवा दूसरा कुछ नहीं चाह रहे हैं। वे अपनी मौत के लिए दूसरों को मारने पर उतारू हैं। इस स्थिति

में इनके मरने का जुगाड़ कर देना ही एकमात्र कर्तव्य है अन्यथा अधर्म बढ़ेगा भगवान् श्रीकृष्ण का यही मनोभाव अगले श्लोक में प्रतिबिम्बित है।

सुविपुलेषु बलिष्वहितेष्वपि
स्वमभितः परितश्च धृतेष्ववपि।
निशितशस्त्रकरेषु रणोद्यते–
ष्वपि मुमूर्षुजनो न निवर्तते।।१२।।

भावार्थ–भावी बलवान् होता है। बलवान् क्रूर अनेक शत्रुओं से चारों ओर से घिरे रहने पर भी काल के वशीभूत मनुष्य अन्याय का पक्ष लिए लड़ता हुआ मारा जाता है, यह प्रकृति का नियम है, सदा से होता आया है। यही बात बतला रहे हैं कि बहुत संख्या में अपने से अधिक बलवाले अपने वध को तत्पर अपने सामने और चारों ओर से खड़े तीक्ष्ण शस्त्र हाथ में लिए युद्ध के लिए तैयार शत्रुओं के रहते भी मनुष्य अन्याय से विमुख नहीं होता और लड़कर मारा जाता है। वह स्वयं मरने को तैयार रहा करता है।

सुखसमृद्धिसुहृद्विजयहवजान्
विशदकीर्तिसुरालय सम्पदः।
अवसितायुरवैति मृतिं जनो
रिपुशरेऽस्य परं रमते मनः।।१३।।

भावार्थ–काल के आने पर मनुष्य की भावनायें बदल जाती हैं उसे दुश्मन के वार बहुत प्यारे लगते हैं वह मृत्यु को सुख समृद्धि के रूप में, अपने मित्रों की विजयपताका के रूप में, व्यापक कीर्ति के रूप में और स्वर्गीय सुख सम्पदाओं के रूप में देखने लगता है।

स्वजनमारणमुख्यरणेऽर्जुनः
ससहजोऽकरुणंकृतवान्मनः।
भगवता भविनां कृतदर्शिना
न खलु धर्ममवेत्यपि सज्जनः।।१४।।

भावार्थ–रणक्षेत्र में उपस्थिति प्राणियों के मृत्युमय कर्मपरिपाक के साक्षी भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेशों से धर्मराज युधिष्ठिर के सहित अर्जुन ने अपना मन कठोर और निर्दय बना लिया ऐसे अवसर में, जब कि धर्मयुद्ध के लिए भी बहुत कुछ अधर्म का सहारा लेना पड़ सकता है। सत्पुरुष भी शुद्ध धर्म को अनदेखा कर देता है इसीसे थोड़ा बहुत छल कपट और युद्ध नियमों का त्याग हो जाता है।

बलवती भविनाम्भवितव्यता
भगवताऽपि कदाऽपि न वारिता।
भगवतैव भविष्यदनेहसा
जनमनो घटनाय विनीयते।।१५।।

भावार्थ-संसारी जीवों की भवितव्यता (होनी) बहुत बलवान् होती है भगवान् भी उसे रोकना नहीं चाहते। भगवान् कालात्मा हैं काल सभी घटनायें कराता है भगवान् ही कालरूप होकर प्राणियों के मन को घटना के अनुरूप बना लेते हैं।

क्व सुहृदो गुरवः क्व नु सोदरा
विशदकीर्तिमतां क्व परम्परा।
पदम दोद्धतधूर्तसमादृता
द्रुपदजाऽश्रुपयोधितलं गताः।।१६।।

भावार्थ-कहाँ अपने मित्र, कहाँ अपने गुरुजन और कहाँ अपने भाई-बन्धु एवं जिनका शास्त्र ज्ञान अध्यात्मनिष्ठा, भगवद्भक्ति एवं अखण्ड ब्रह्मचर्य तथा कर्तव्य निष्ठा से बनी कीर्ति संसार को प्रकाशित कर रही है ऐसे ज्ञानी वीर भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, कर्ण आदि की पंक्तियाँ कहाँ रहीं। इन सबों को उस दुर्योधन से सम्मान प्राप्त था जो राजमद के कारण उच्छृंखल हो चुका था और धूर्तपना ही जिसका कर्तव्य रह गया था। उक्त सभी आदर्श वीर द्रौपदी के आँसू के समुद्र के तल में समा गये। नीचों का सम्मान भी श्रेष्ठ लोगों की मृत्यु का कारण बन जाता है।

भवति दृग्विषयः सकलं जगद्
दृगिय मान्तरदृक्सहिता परम्।
विविधकल्पितभेदपुरस्सरम
प्रथयते विषयम्प्रियमप्रियम्।।१७।।

भावार्थ-सारा संसार दृष्टि के सामने है किन्तु यह दृष्टि एक भीतरी दृष्टि के सहयोग से काम करती है। हर प्राणी की कुछ कल्पनायें होती हैं उन कल्पनाओं के फलस्वरूप कुछ बातों को वह अच्छा और कुछ को बुरा मानता है। इस से प्रिय अप्रिय, उपादेय व वर्जनीय की मिथ्या कल्पना होती है। वह कल्पना ही सारी प्रवृत्तियों का कारण बनती है। भयानक महाभारत युद्ध भी ऐसी कलपनाओं का परिणाम था। परस्पर विरोधी मिथ्या कल्पनायें आपस में लड़कर मर गयीं। तत्त्वदर्शी कल्पना नहीं करता, इससे वह कोई

भी कर्म स्वार्थवश नहीं करता। फिर भी उसके कुछ शास्त्रीय कर्तव्य होते हैं, अपने कर्तव्यों को वह शास्त्ररूप भगवद् आदेश मानकर करता है। इससे अपने किये सारे कर्म परमात्मा के किये होते हैं। उन कर्मों में ज्ञानी अपना कर्तृत्व नहीं जोड़ता। बस यही गीता का सार है।

प्रथम मैच्छदवेक्षितुमर्जुनः
परभटान्स्वसमान्विषमायुधान्।
परमवेक्ष्य परान्परिकल्पितान्
निजतयेज्यतया च युयोजतान्।।१८।।

भावार्थ-पहले अर्जुन ने यह देखना चाहा कि कौन से वीर विकट अस्त्रों और शस्त्रों वाले हैं जिनसे मुझे लड़ना है। किन्तु जब उन्हें देख लिया तब जिन्हें पहले शत्रु मानता था उन्हें अब आत्मीय और पूज्य मानने लगा। उनमें उसने आत्मीयता और पूज्यता का आरोप कर लिया। वास्तव में वे पूज्य थे ही किन्तु वर्तमान में विपक्ष में होने से उनकी पूज्यता समाप्त हो चुकी थी। समाप्त पूज्यता को अर्जुन ने दुबारा बुलाया। मोहवश अर्जुन स्वयं युद्ध में पीछे खिसकने लगा।

मतिरियम्प्रसभम्प्रथिताऽन्तरा
परजयोत्सुकताप्रतिवारणी।
भवति च स्म तया नृहरिं विना
रिपुकुवाच्यपदं समराग्रणीः।।१९।।

भावार्थ-अर्जुन के हृदय में यह बुद्धि शायद उसके अनचाहे फैल गयी जो कि विपक्ष को जीतने के उत्साह को रोक रही थी। यदि नृहरि, मनुष्यों का नेतृत्व करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ नहीं होते तो युद्ध में सबसे आगे रहने वाला अर्जुन शत्रुओं के अपमान जनक, कायर जैसे शब्दों का पात्र बनता।

मतिरियं नयते पुरुषम्बलात
ततइतः कृतकर्मफलाप्तये।
बलिपशूपमया पुरुषों ब्रजेद्
भवति चेन्न हरिर्दृढसारथिः।।२०।।

भावार्थ-वास्तव में चेतन की यह बुद्धि उसे उसकी इच्छा के बिना ही उसके किये हुए कर्मों के फल प्राप्त कराने के लिए इधर-उधर घुमाती रहती है। मनुष्य चाहे जितना भी विवेकी हो किन्तु वास्तव में वह अपने प्रारब्ध

कर्मों के द्वारा बिना समझे ही बलिपशु की भाँति इधर-उधर घुमाया जाता रहता है। जिस पर भगवान् की विशेष कृपा होती है उसके लिए वे उसके मनरूपी रथ के बलवान् सारथी होकर वैसे ही सन्मार्ग की ओर बढ़ाते हैं जैसे अर्जुन को बढ़ाया था। स्वभाव से शरणागत होने से और वचन से भी शरणागति स्वीकार करने से भगवान् उसके सारथी बन गये।

इत्युपक्रमभूतार्था नखपद्येषु रक्षिताः।
हरिगीतोपनिषदाम्भूयासुः सुखदाः सुताम्।।२१।।

भावार्थ-इस प्रकार भगवद्गीता के उपक्रमभूत प्रथम अध्याय के अर्थ बीस श्लोकों में संगृहीत हुए। ये सज्जनों के लिए सुखद हों।

प्रथम अध्याय समाप्त

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सहजसात्त्विकथीः कुलरक्षणं
रणमुखेऽपि विधेयपरीक्षणम्।
दुखधेयतया सुसखं हरिं
वदति पार्थ उपागतसंशयम्।।२२।।

अन्वयः-सहजसात्त्विक थीः पार्थः रणमुखेऽपि कुलरक्षणं विधेयपरीक्षणम् (च) दुखद्येयतया सुसखं हरिम् उपागतसंशयं वदति।

व्याख्या-रणमुखे युद्धारम्भे, कुलरक्षणं, स्ववंशे रक्षिते सत्येव युद्धजयः सुखमयो भवति। अत्र तुस्वबंश्यानामेव विरोधित्वात् तेषां नाशे कुतः सुखं स्यात्। अतएव विधेयस्य प्रहरणारम्भस्य कर्तव्यतायाः पुनः परीक्षा आवश्यकीति भावः। दुखधेयतया अशक्यनिर्धारणतया। रागेण प्रवर्तमानाः स्वकृत्यं न सुसमीक्षन्ते। धर्मेण प्रवर्तमानानां तु धर्मस्य सूक्ष्मतया कर्तव्यपरीक्षा कृत्यारम्भसमयेपि आवश्यकी भवति। स्वयं निर्धारणस्या शक्यत्वे विश्रब्धः सखा मृग्यते। स च पार्थस्य भगवान् सहैवास्ति अतएव तम् आह कृतं विद्येयपरीक्षणम्मम उपागतसंशयं जातं, तेन युद्धप्रवृत्तिर्बाध्यते इत्याशयः।

भावार्थ-समझदारों की प्रवृत्ति मूर्खों के समान नहीं होती। वे अपने कर्तव्य की परीक्षा बार-बार करते रहते हैं। अर्जुन जन्म से ही सात्त्विक थे। ऐसे लोग रागद्वेष से प्रभावित न होकर किसी भी कर्तव्य को धर्मबुद्धि से ही

करते हैं। धर्म अति सूक्ष्म तत्त्व है। एक बार समझ चुकने के बाद भी उसमें संशय हो जाना एक धर्मशील के लिए स्वाभाविक होता है। कर्तव्य के समय ही यदि संशय आ जाये तो योग्य परामर्शदाता के अभाव में कर्तव्य बाधित हो जाता है। अर्जुन को संशय हुआ और योग्यपरामर्श दाता के रूप में भगवान् ने शास्त्रमयी सूक्ष्म बुद्धि से इसका वारण कर दिया युद्ध से पहले अर्जुन को कौरव वंश की चिन्ता नहीं थी किन्तु जब उसकी समझ में आ गया है ये अभी मेरे हाथों मारे जायेंगे तब उसे ममता उमड़ आयी। वह सोचने लगा कि अपने लोगों का वध करके प्राप्त किया हुआ विजय कभी भी सुखमय नहीं हो सकता इसलिए मैं युद्ध नहीं करूँगा अपने इस अज्ञानपूर्ण निर्णय पर पार्थ स्वयं सशंकित थे। इसी से उन्होंने भगवान् से पूछा कि अभी मेरा उचित कर्तव्य क्या हो सकता है ?

किमु जयोऽथ पराजय इष्यतां
गुरुवधः स्वमृतिः किमु वेष्यताम्।
क्षणभने विभवेऽथ मनोजये
हरिसखेन मनः क्व नु दीयताम्।।२३।।

अर्जुन पूछते हैं, क्या मैं अपने विजय की इच्छा करूँ या उनके द्वारा पराजित होना ही अच्छा समझूँ, गुरु जनों का वध करूँगा उनके हाथों मर जाना पसन्द करूँ, जीवन के कुछ ही क्षणों तक रहने वाले लौकिक वैभव में मन लगाऊँ या एकान्त योगाभ्यास से मन को वश में करने के उपाय अपनाऊँ, जगत्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण जिसके मित्र हों उसे ऐसी विषम परिस्थिति में क्या निर्णय लेना चाहिए।

भगवता भणितं, जितचेतसा
परसमर्चनभावनयाऽऽगतम्।
निजविधेयमयन्तु विधीयताम
मतिमता फलकामनया विना।।२४।।

इस पर भगवान् श्रीकृष्ण बोले-कि बुद्धिमान् को चाहिए कि किसी भी कर्तव्य के फल के रूप में आये सुख-दुःखों को वास्तव फल न माने, जो अपना कर्तव्य होता है उसकी पूर्ति ही उसका फल होता है। परिस्थितिववश आये हुये अपने कर्तव्य को भगवान् की पूजा समझकर ही करना चाहिए।

न खलुकर्म विधेय मुपेक्षितं
क्वचिदपि क्षमते पुरुषं क्षमम्।

विषय रागनिबद्धममुम्भृशं
द्यति परत्र निधाय निराश्रये।।२५।।

उपस्थित अपना कर्तव्य यदि सक्षम पुरुष के द्वारा छोड़ दिया जाता है तो वह कर्तव्य उस पुरुष को कभी क्षमा नहीं करता वह उसे परलोक में विषयरागरूपी रस्सी से बाँधकर वहाँ ले जाकर बुरी तरह कारता है जहाँ उसके बचाव का कोई सहारा नहीं होता।

न पुरुषो भवबन्धनवारणे
प्रभवति स्वयमीरागकारणे।
भगवदीयतया भगवत्तया
सकलकारकदृक् कुरुतां कृतिम्।।२६।।

पुरुष अपने संसार बन्धन का निवारण करने में स्वयं सक्षम नहीं है। क्योंकि सारे कार्यकारण ईश्वर के अधीन होने से, महत्त्वपूर्ण भवबन्धननिबारण भी उनके ही अधीन है। मुक्ति वे ही देते हैं। सारे कर्ता आदि कारण या तो ईश्वर के ही स्वरूप है या उनके उपकरण हैं। ऐसी स्थिति में हम प्रकृति के अधीन रह कर जो भी करते हैं वह उनकी ही सहज प्रेरणा का फल होता है। हम कभी भी किसी क्रिया में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं रहते। यही ईश्वरार्पण बुद्धि है। इसे ध्यान में रखकर यावज्जीवन स्ववर्णाश्रमोचित नित्य नैमित्तिक कर्म करते रहना चाहिए। इससे ही ईश्वर की सन्तुष्टि और मुक्ति दोनों सम्भव है।

जनिमताम् मरणम् परमास्पदम्
परमिदं किल धर्ममयं शुभम्।
स्वपरभेदतिरस्कृतसन्मतिः
स्वचरितं विजहाति न सोऽर्जुनः।।२७।।

जन्म लेने वालों का मरण चरम अवस्था होती है। मरण यदि धर्ममय हो तो उसका परिणाम शुभ होता है। स्वस्वरूपप्रयुक्त कर्तव्य धर्म होता है। स्वरूपज्ञान के बिना किया हुआ कोई भी कर्म अधर्मकोटि में मिल जाता है और उसका फल संसार होता है। स्वरूपज्ञान के बाद स्वपरभेद मिट जाता है। उसके बाद ही वास्तव भगवत्कर्म होते हैं। दुर्बल ज्ञान भेदज्ञान का वारण नहीं कर पाता। इससे वास्तव भगवत्कर्म छूट जाते हैं। जो व्यक्ति ज्ञाननिश्ठावश कर्मनिष्ठ होता है वही मुख्यरूप से अर्जुन (धवल) कहा जाता है।

स्वकृतकर्मकलापफलाप्तये

स्वमतये धृतये भवमुक्तये।
वपुरिदं लभते सुकृतैः पुमान्
न पुनरेतदभेदविवृद्धये।।२८।।

शुभ कर्म के फलस्वरूप ही मानवशरीर मिटता है। इसके द्वारा पूर्व अर्जित कर्मों के फल तो मिलते ही हैं। इस शरीर से स्वरूपज्ञान भी अर्जित होता है। ज्ञान के अनुरूप चित्त की अचल स्थिति भी इसके द्वारा सम्भव है। उक्त स्थिति से संसार-बन्धन भी छूट सकता है। किन्तु हम प्रमादवश इस शरीर में अपना अभेदज्ञान बढ़ाते रहते हैं। हमें प्रमाद छोड़ कर स्वरूपनिष्ठ होकर जीना चाहिए।

सुकृतदुष्कृतजातकलेवरं
कलयते च जहाति नरोऽनिशम्।
पुनरिहैव करोति किलस्मितां
क्व च ममत्वमनुंज्झितसंसृतिः।।२६।।

यह मानवशरीर समान पुण्यपापों से बनता है। चेतन आत्मा इसे बार-बार पाता और छोड़ता है। फिर भी इसकी अस्थिरता का ध्यान भूल कर इसमें ही अहम् बुद्धि और कभी ममता बनाता है। यही इसका संसार है जो कर्मजनित प्रमादवश छूट नहीं पाता।

सकलकालगतः सकलार्थगो-
ऽतिशयसूक्ष्मतनुः पवनादिभिः।
न कलितः कलयन्नखिलं जगं-
न जनिमृत्युपदम् पुरुषः स्वयम्।।३०।।

आत्मा अनादि अनन्त है। इससे समस्त काल से इसका समान सम्बन्ध है। यह सभी वस्तुओं में रह लेता है। कोई वस्तु इसे छोटी नहीं पड़ती। क्योंकि यह स्वयं अति सूक्ष्म है। इसे अग्नि जल पवन प्रभावित नहीं करते। यह उनकी पकड़ से परे है। इसका धारण कोई नहीं कर सकता, जब कि यह स्वयं सारे संसार को धारण किये हैं। ''ययेदं धार्यते जगत्'' (गीता ७-५) यह स्वयं जन्ममरण का पात्र नहीं है। कर्मरूपी उपाधि से जन्ममरण अनुभव में आते हैं।

प्रथमतः स्वमवेहि ततः परं
निजविरूपणकारणबारणम्।
अनवधानमपास्य ततोऽनिशम्

प्रतियतस्व शुभाय च शुद्धये।।३१।।

पहले अपने स्वरूप को समझो। बाद में अपने में होने वाले विकारों (स्वरूपविरुद्ध अवस्थाओं) के कारणभूत अज्ञानवर्धक कर्मों को रोकने के उपायभूत तत्त्वबोध को समझो। इसके बाद प्रमाद छोड़कर ज्ञान की शुभ अवस्था के लाभ के लिए और स्वरूप की शुद्धि (तत्त्वदृष्टि) के लिए प्रयत्नों में लगे रहो।

यदवधि स्वहितम्पुरुषार्थकं
न खलु वेद पुमांस्तदवध्यसौ।
अगणिता वितथाः फलवासनाः
समवलम्ब्य भवाय बिलम्बते।।३२।।

पुरुष जब तक अपने हित यानी कल्याण के उपाय और पुरुषार्थ यानी प्राप्त करने योग्य सर्वोत्तम तत्त्व का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह असंख्य झूठी फलवासनाओं का सहारा लिये सांसारिक अनुभवों के लिए अज्ञान अवस्था में ही रुका रहता है।

अमितविस्तररागभवे भवे
स्वमुपलभ्य कृती मतिमान् भवेत्।
श्रुतिषु चैव तथा स्वहितम्परं
कलितबांस्तदधीतिफली भवेत्।।३३।।

यह संसार विषयों में असीम राग उत्पन्न करता है। राग के विषयों की सीमा न होने से उन्हें पा कर कोई कृतार्थ नहीं होता। बुद्धिमान् व्यक्ति इस संसार में अपने आप को पा कर कृतार्थ होता है। मोक्षसाधनों का अवलम्बन उसके बाद ही हो पाता है। वेदों का अध्ययन बहुत लोग करते हैं किन्तु जिसे उनमें अपना परम हित मिल जाता है उसी का अध्ययन सफल होता है।

त्यजति कर्मफलं न तु कर्म तद्
यदनुयातममुष्य कुलादिभिः।
तदनुतिष्ठति यत्नशतेन यद्
भगवतः प्रियमात्मवशो यतिः।।३४।।

तत्त्वबोध का फल कर्मत्याग नहीं बल्कि कर्मफल त्याग होता है। तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति (यति) मन को वश में रखता हुआ बहुत प्रयत्नों से वह कर्म करता रहता है जो भगवान् को अतिशय प्रिय होते हैं। भगवत्तत्त्वबोध होने के बाद भगवत्प्रीति हेतु कर्मों का होते रहना स्वाभाविक है।

विषयिता फलकामनया भवेद्
विषयितैन मता भवबन्धनम्।
असुखतोऽवति स स्वमनारतं
विषयदूरमतिः स्वमतिस्तु यः।।३५।।

कर्मफलों की इच्छा से शब्दादि विषयों के प्रति लगाव बढ़ता है। यह लगाव ही संसारबन्धन है। जो व्यक्ति विषयों से मन को हटा कर स्वरूपनिष्ठ होता है यानी सभी कृत्यों में प्रकृति में संसगशून्य अपने शुद्ध स्वरूप को ही भगवदीयता वेश में देखता हुआ केवल भगवदिच्छा मानकर कर्म करता है वह दुःखों से अपनी रक्षा अनायास करता रहता है।

स्वभवधारयते न तु विस्मर
त्यपि कृतेषं शतेषु सुशान्तधीः।
सुकृतमेव करोति सुधीः सदा
भगवते यतनं सृकृतात्तमम्।।३६।।

तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति जाति कुल गोत्र वर्ण आश्रम आदि विशेषों से अलग अपने शुद्ध रूप का ध्यान रखता है। अपनी शुद्धता को कभी नहीं भूलता। इससे सभी कर्तव्यों के पीछे उसका एक ही प्रकार का संकल्प होता है–भवत्प्रोति हेतुत्व। संकल्पों के न बदलने से वह सदा सभी कृत्यों में शान्त ही रहता है। तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति जो भी कर्म करता है वह सुकृत ही होता है। वह केवल भगवान् के लिए भगवत्प्रेरणा मान कर कर्म करता है। भगवदर्थ कर्म सब से श्रेष्ठ होता है। क्योंकि वह मोक्ष का अव्ययहित साधन होता है। उसमें ज्ञानकी प्रधानता होने से वह ज्ञान योग से कम नहीं होता।

त्यजति चेद्विशयान् कृतकान् नरः
स्मरति च स्वमनारतभव्ययम्।
सुकृतदुष्कृतनाशविमूलितम्।
भवमपास्य परम्पदमश्नुते।।३७।।

यदि कोई सात्त्विक व्यक्ति विषयों में उत्पत्ति विनाश आदि दोषों का चिन्तन करता हुआ एवम् अपने स्वरूप का उनसे कोई वास्तव उपकार न मानता हुआ उन्हें अपने हृदय से निकाल दे और सदा ही अपने अविनाशी स्वरूप का ध्यान करता रहे तो उसके पुण्य और पाप दोनों कट जाते हैं, इससे उसका संसार भी निर्मूल होकर छूट जाता है, तब वह उस शुभ अवस्था को पा जाता है जिसके बाद कुछ पाना शेष नहीं रहता, वही परमपद

होता है।

श्रवणतो नयनं कुशलायते श्रवणतो हृदयं विशदायते।
सुमिलितंच चिरेण विभिद्यते प्रमुखरत्नमहो मिहिरायते।।३८।।

शास्त्रश्रवण से दृष्टि शुद्ध होती है, उसकी कुशलता बढ़ती है, तत्त्व सही रूप में उपलब्ध होता है। श्रवण से ही हृदय उदार होता है, संकीर्णता जाती है। इससे काम क्रोध का अवसर कम बनता है। जो जड़तत्त्व अनादिकाल से चेतन तत्त्व से मिला हुआ है वह अलग हो जाता है। इससे महान् रत्न चेतन तत्त्व सूर्य के समान अनन्तप्रकाशमय उपलब्ध हो जाता है।

श्रवणतः स्थितधीर्महतोऽहमः
सुमिलिताच्चिदरं विरलायते।
विशति तद्विशदम्बदमात्मनो–
ऽणुरपि येन विभोः सदृशायते।।३९।।

श्रवण से बुद्धि स्थिर होती है। इससे महत्तत्त्व और अहंकार तत्त्व से मिला हुआ सा, एक हुआ सा चेतन तत्त्व शीघ्र अलग लक्षित होने लगता है। तब वह अपने उस महान् पद में प्रवेश करता है जिससे अणुपरिमाण आत्मा भी विभु परिमाण परमात्मा के तुल्य लगने लगता है।

विषयलोलमुबारयतीन्द्रिम्
मनसि लौल्यमतः परमुद्धरेत्।
अथ सुषुप्ततमां विषयस्पृहां
हरति बोधयमादिसमाधिभिः।।४०।।

सामान्य रूप से लोगों की इन्द्रियाँ विषयों के प्रति ज्यादा झुकाव रखती हैं। इससे परमार्थ का चिन्तन नहीं हो पाता। अतः कल्याणकारी व्यक्ति पहले मन की चंचलता का नियन्त्रण करता है। बाद में शास्त्र श्रवणपूर्बक यम नियम आदि अंगों के साथ समाधि के द्वारा मन में सोयी छिपी विषयस्पृहा को तत्त्वदृष्टि से क्रम से निकलता है।

परविरागमतः परमश्नुते
भवति चात्मनि चित्तमलं स्थिरम्।
तदनु यत्सुमतिः फलनिस्पृह–
श्चरति तेव कृतेन विमुच्यते।।४१।।

विषयस्पृहा के नष्ट होने के बाद ही परं वैराग्य का उदय होता है। तब चित्त आत्मनिष्ठ हो पाता है। इसके बाद फलस्पृहा से रहित हुआ प्राज्ञ जो

कर्म करता है उस कृतक कर्म से ही वह अपनी नित्य अवस्था मोक्षपद को प्राप्त होता है।

जनियतां वपुरादिगताऽस्मिता
प्रकृतिसंगकृता न निवर्तते।
गुरुकृपाऽऽकलितां श्रुतिसंविदं
तदनुवृत्तिमृतेऽपि जनुःशतैः।।४२।।

चेतन तत्त्व का प्रकृतिसंग अनादि है। वह संग ही शरीर आदि में अहम् बुद्धि उत्पन्न करता है। जब तक सद्गुरु की कृपा से श्रौततत्त्वनिष्ठा और तदनुकूल अनुष्ठान न हो तब तक सौ जन्मों की साधना से भी मुक्ति नहीं मिलती।

यदि मतिर्धियते निजरूपगा
न वपुरादिगता विषयास्पृहा।
भवति तर्हि न बाह्यरतिः क्वचित्
पुनरनात्मनि सा न च सज्जते।।४३।।

यदि साधक की बुद्धि विषयों के प्रति स्पृहा छोड़ देती है तब उनकी प्राप्ति के साधन शरीरादि में अहम् बुद्धि का भी त्याग हो जाता है, तब वह केवल स्वस्वरूप में टिक जाती है। तब बाह्य अर्थों में रति नहीं रह जाती। तब अनात्म तत्त्वों में आसक्ति स्वयं समाप्त हो जाती है।

गतजनुःषु बहूपकृतमनः
प्रियतया विषयाननुधावति।
तदनु रज्यति तेन च सज्जते
सुचरितैस्तत एवं विसृज्यते।।४४।।

पिछले जन्मों में विषयों ने मन का बहुत उपकार किया है। वे सदा मन से जुटते रहे हैं, इससे वे प्रिय लगते हैं और मन उनकी ही ओर दौड़ता है। उससे नया राग उत्पन्न होता है, वह राग ही आसक्ति का रूप ले लेता है। तब सत्कर्म उसे दूर से ही छोड़ देते हैं, सत्कर्मों के प्रति रुचि समाप्त हो जाती है।

न विषया भविनामनिबारिताः
क्व च भवन्ति भवी च ततः क्रुधा।
वितथभावमयं स्वमवेत्यतः
सहजशुद्धित एव विहीयते।।४५।।

संसारी जनों के काम्य विषय कहीं न कहीं प्रतिबन्धित बाधित या नष्ट होते ही रहते हैं। बिना प्रतिबन्ध के विषय किसी को नहीं मिलते। प्रतिबन्ध से संसारी जनों को क्षोभ या कोप होता है। इससे वह अपने को काम्यविषय योग्यतारूपी केवल कल्पित विशेषण से जोड़ कर देखने लगता है, तब वह अपनी सहज शुद्धि, विषय निरपेक्षतारूपी गुण से रहित हो जाता है।

यदि करोति स सज्जनसंगतिं
जगति दोषधियं कुरुते तदा।
श्रुतिविचारयमादिसमाधिभिः
स्वमनुपश्यति शुद्धमनोरथः।।४६।।

ऐसी स्थिति में विषयलिप्साजनित दुःखों से बचने के लिए मुमुक्षु यदि सत्पुरुषों की संगति करता है तब उसे संसार में दोष दीखने लगते हैं। तब वह श्रुतिवचनों पर विचार करता है और यम नियमादिपूर्वक समाधि जैसे उपायों से अपने स्वरूप का दर्शन करने लगता है, उसकी इच्छाएँ शुद्ध हो जाती हैं जिससे विषयों का ध्यान छूट जाता है।

यदि भवेद्विषयैकपरम्मन–
स्तदिह जीवनतो मरणं वरम्।
यदि चिदात्मगतं विषयाहत–
न्तदुपकारफलम्पृथिवीतलम्।।४७।।

यदि संसार में रहते हुए हमारा मन केवल विषयों को प्रधानता देता है तो जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है। मरने से राग की वृद्धि रुकेगी। और यदि किसी का मन विषयों के दुष्प्रभाव से बच कर चित्स्वरूप आत्मा में स्थित होता है तो समझना चाहिए कि इस भूमण्डल की रचना ऐसे व्यक्ति के उपकार के लिए ही हुई है। मोक्षसाधन के द्वारा ही विश्वसृष्टि की सफलता अंकित होती है।

भवति रागपरम्भविनाम्मनः
परमरागितयाऽऽचरणं वरम्।
यदि तु दोषधिया विषयांस्त्यजे–
न्नियमतः पुरुषों न स रज्यते।।४८।।

संसारियों के चित्त में विषयराग की प्रधानता होती है। वे भी अपने कृत्यों के पीछे राग को प्रधानता न दें तो अच्छा हो। इससे दुष्कृत्य रुकते हैं, राग भी घटता है। यदि कोई साधक विषयों में दोषों का ध्यान रखते हुए

नियमित रूप से उनका त्याग करता रहे तो आगे चलकर उन पर राग भी समाप्त हो जाता है।

विषयसंगमपास्य सुचिन्तनै–
र्निगडितो निजगैश्च हरेर्गुणैः।
न पुनरेति पुमान् विषयाबिलं
जगदबोधबलम्बहुकश्मलम्।।४९।।

तत्त्वप्रधान सात्त्विक चिन्तनों से विषयों के प्रति आसक्ति दूर कर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के स्वयम्प्रकाशत्व चिन्मयत्वादि और परमात्मा के सत्य संकल्पत्वादि एवं भूतसुहृत्त्वादि गुणों से स्वयं बन्धता हुआ पुरुष अज्ञान प्रधान बहुत दुःखों से भरे एवं बन्धन हेतु विषयों से व्याप्त इस संसार में दुबारा नहीं आता।

बहुलबारिभरा अपि सत्त्वरा
जलनिधिम्बहबोऽपि सरिद्वराः।
न हि सकम्पमथ सुभितं कुतो
विदधते विषया न बुधन्तया।।५०।।

असीम जल से भरी, बड़े वेग से बहती हुई बहुत सी बड़ी नदियाँ समुद्र में जाकर उसे जरा भी कम्पित नहीं कर पाती, फिर क्षुभित तो क्या कर सकती हैं। इसी प्रकार तत्त्वनिष्ठ विद्वान् को विषय भी मिल कर भी विकृत नहीं कर पाते।

जलनिधेरुदरादुदगान्मही
तदुपरि प्रसत्सलिला सरित्।
तदुदकांशयुता तमुपागता
पुलकितं क्षुभितं कुरुतां कथम्।।५१।।

समुद्र के गर्भ से पृथ्वी निकली है। इसी से यह जलमय है। इसके ऊपर जो कोई सजल नदी बह रही है उसे समुद्र की अनन्त जलराशि से थोड़ा सा जल मिला है, ऐसी स्थिति में समुद्र से मिल कर नदी उसे पुलकित (प्रभावित) या क्षुभित कैसे कर सकती है।

सहजसौख्यमहोदधिमग्नधी–
र्विषयतः सुखभिच्छति नो मनाक्।
कथमबिस्मृतकण्ठमणिर्महान्
क्षणमपीच्छति भग्नवराटिकाम्।।५२।।

अपने स्वरूपभूत सजन आनन्द में जिसकी प्रज्ञा डूब चुकी है वह शब्दादि विषयों से थोड़ा भी सुख नहीं चाहता। भला, जिस महापुरुष को अपने कण्ठ में स्थित मणि का ध्यान है वह फूटी कौड़ी पाने की इच्छा कैसे करेगा।

आत्मा से विश्व की सृष्टि हुई है। उसके ही ज्ञान और आनन्द का थोड़ा अंश विश्व में उपलब्ध होता है। ज्ञानानन्दमय आत्मा अपने ही अनन्त वैभव के क्षुद्र अंश से प्रभावित हो यह केवल अज्ञानावस्था का हल्का विकार है। इसे स्वरूपनिष्ठारूपी अल्प उपाय से ही दूर किया जा सकता है।

संख्यातात्मा कर्मयोगान्मुच्येतेत्यादितो हरिः।
सांख्यमाह तदभेन्दुगुणपद्येषु सन्धृतम्।।५३।।

व्याख्या-सम्यक् ख्यातः प्रकथन हेतु दृग्विषयीकृतः, आत्मा स्वस्वरूपं, येनासौ तथोक्तः कर्मयोगात् प्रतिपादमिष्यमाणात्, उपायात्, मुच्येत् भवबन्धात् इति हेतोः श्रीकृष्णः आदितः सर्वोपनिषत्सारप्रस्तावोपक्रमे, सांख्य नाम सनातनं स्वस्वरूपदर्शनशास्त्रम्, आह तदेवात्र इन्दुगुणमितेषु पद्येषु सम्यक् संक्षेपविस्तराभ्याम्, ।।

भाषाभावार्थ-स्वरूपबोधपूर्वक कर्मयोग से मोक्ष होता है यह जानते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र के आरम्भ में सांख्ययोग बतलाया है। वही यहाँ एकतीस पद्यों में कुछ संक्षेप और कुछ विस्तार से संगृहीत है।

दूसरा अध्याय समाप्त

अथ तृतीयोऽध्यायः

स्वभवगत्य सुकर्म विधीयतां-
भवगतिर्विफला क्रियया बिना।
अनवबोधहता न कृतिः शुभा
तदिह कर्मणि धीर्विनिवेश्यताम्।।५४।।

अपने आपको समझकर सत्कर्म करे। कर्म के बिना ज्ञान निष्फल होता है। अज्ञान की अवस्था में किया हुआ सत्कर्म वास्तव शुभ फल नहीं दे पाता, इससे अपने शुभ कर्मों के प्रयोजक के रूप में स्वस्वरूपबोध का निवेश करते रहना चाहिए।

विशेष-कर्मों का वास्तव शुभ फल मोक्ष ही होता है। अज्ञान अवस्था में किये कर्मों के फल अनिष्ट इष्ट और मिश्र रूप से मिलते रहते हैं और संसार बढ़ता रहता है। ज्ञानपूर्वक किये कर्मों से उक्त विविध फल न मिल कर केवल अज्ञान का क्रमिक नाश होता है और मोक्ष हो जाता है। अतः ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही श्रेयस्कर है, यह समग्र गीता शास्त्र का निष्कर्ष है।

हरिरजस्रजगज्जनिरक्षणो-
द्धृतिपरो नितराम्फलनिःस्पृहः।
तदिव कोऽपि फलस्पृहयालुता-
विरहितः कृतिमान् गतिमान् भवेत्।।५५।।

भगवान् निरन्तर संसार की सृष्टि रक्षा और संहार एवं अधिकारी को मोक्षप्रदान करते रहते हैं। आप्तकाम भगवान् इन कर्मों का कोई फल कभी नहीं चाहते। वैसे ही यदि कोई अधिकारी फलों की इच्छा के बिना ही कर्म करता रहेगा तो भगवान् के समान ही संसारबन्धन से दूर हो जायेगा।

विशेष-भगवान् को स्वरूप की विस्मृति कभी नहीं होती, इससे शब्दादि विषयों कर उन्हें स्पृहा नहीं होती। हम भी यदि स्व स्वरूपनिष्ठ हो जायें तो फलेच्छा स्वतः समाप्त होगी और वे ही कर्म जो अज्ञानावस्था में बन्धन के हेतु होते हैं, ज्ञान के प्रकाश में मोक्ष के साधन बन जायेंगे। वेद आदि शास्त्र में कर्मों को भी भगवान् का रूप माना गया है। कर्मों के रूप में भी भगवान् की उपासना होती है।

श्वसनवद् भविनां कृतिसंगिता
भवति बाह्यधियांच फलेप्सुता।
मतिविरक्तिमताम्फलधीर्हता
भवतु नाम न कर्मविहीनता।।५६।।

जब तक शरीर है तब तक सांस चलती है। सांस के साथ शरीर वाणी और मन के बहुत से कर्म होते रहते हैं। उन्हें रोकना सांस रोकने के समान ही कठिन है। एवं यदि कोई स्वरूपनिष्ठ न हो कर बाहरी दुनियाँ में ध्यान रखता है तो उसे फलों की इच्छा भी होती है। ज्ञानवैराग्ययुक्त लोगों में फलों की कल्पना और इच्छा तो समाप्त हो सकती है किन्तु निष्क्रियता नहीं आ सकती। क्योंकि क्रिया जीवन का ही पर्याय है।

सुकृतिनां वपुरन्नभयम्मतं
जलमयन्तु तदन्नमथो जलम्।

न सृकृतेन बिना सुलभं नृणा–
मिति वपुः सुकृताश्रिताश्रितमिष्यताम्।।५७।।

पुण्यशीाल सात्विक पुरुष यह जानते हैं कि यह शरीर अन्न पर आश्रित है और अन्न भी वर्षा के जल पर निर्भर होता है। वह जल भी यज्ञ आदि पुण्य कर्मों के बिना नहीं मिलता, अतः इस शरीर को यज्ञादि प्राचीन नवीन सत्कर्मों पर ही निर्भर मानना पड़ता है।

न प्रकृतिः पुरुषस्य वशे स्थिता
न जलदा न नदाः पुरुषैर्धृताः।
मरुदलं धरणी च विकम्पते
जनपदं सजनम्प्रबिलीयते।।५८।।

कुछ लोग प्रकृति पर ही सब कुछ निर्भर मानते हुए कर्मों की उपेक्षा करते हैं, उनके प्रति कहते हैं कि प्रकृति कभी भी पुरुष के अधीन नहीं होती। हम देखते हैं कि मेघां या नदियों को किसान खेती के लिए अपने वश में नहीं कर पाते। यह भी हम देखते हैं कि कभी आँधी तूफान आकर भारी विनाश कर जाता है और कभी पृथ्वी फट जाती है जिसमें हजारों मनुष्यों के साथ सारा जनपद दब जाता है। प्रकृति से मिलने वाले दण्ड या पुरस्कार का पता बाद में ही चलता है। हमारे कर्मफल देने में पूरी सक्षम प्रकृति वास्तव में परमात्मा का ही एक रूप है।

सुकृतसाध्यमिदं नृकलेवरं
सुकृतधार्यमथो सुकृताप्तये।
असुकृतस्य कृतं किल पातकम्
भगवते यतनं सुकृतम्परम्।।५९।।

लौकिक विषमताओं के निरूपणों और शास्त्र बचनों से यह मानना पड़ता है कि यह मानवशरीर पूर्व पुण्यकर्मों पर निर्भर होता है और उन कर्मों के फलभोगकाल तक ठहरता है। पुण्याश्रित इस कलेवर से और पुण्य अर्जित कर लेना आसान और उचित भी है। जो व्यक्ति सत्कर्मों में मन नहीं देता उससे अनायास पाप होते रहते हैं। जगन्नियन्ता परमात्मा की सन्तुष्टि के लिए किया गया कर्म सबसे श्रेष्ठ पुण्य है।

परकृतम्भजते न परम् परान्
उपकरोति करोति स पातकम्।
जलधराय जलं न ददात्यसौ

शिशुरिवाम्बु कथं स पिपासते।।६०।।

मावन परमात्मा की सृष्टि का उपयोग तो भरपूर कर लेता है किन्तु उनके प्रति कुछ करना नहीं चाहता, बल्कि क्षुद्र जीवों की सन्तुष्टि के प्रयत्नों में लगा रहता है। उसकी यह अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति केवल अपराध बन जाती है। मेघ सदा उसके लिए मानो जल लिये खड़ा रहता है और वह उसके लिए एक अंजलि भी जल नहीं देता। वह तो सदा अबोध बच्चे की भाँति भूख प्यास में रोना और मांगना जानता है। ईश्वर से जितना बोध मिला हो उसका सदुपयोग करना चाहिए। ज्यादा उम्र तक नाबालिग बने रहना उचित नहीं।

दिविषदो बहवः पृथ्वी मह–
ज्जलधिवारिदभास्कभान्यलम्।
नियमयन्ति नयन्ति शुभेऽशुभे
पथि कृतानुगुणंच नृणाम्फलम्।।।६१।।

सृष्टिकार्य के निर्वाह के लिए बहुत से देवता हैं जो पृथ्वी, वायु, समुद्र मेघ, सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रों को नियन्त्रण में रखते हुए कभी शुभ और कभी अशुभ एवं कभी उभयात्मक दिशा में चलाते हैं। वे ही मनुष्यादि प्राणियों को उनके किये कर्मों के शुभाशुभ फल यथा समय समुचित अनुपात में उपलब्ध भी कराते हैं।

सकलदैवतदैवतमीश्वरं
नमति नार्पयते न जलं दलम्।
बितथजीवितमेनमधोगतिं
नयति तस्य भतिः परमार्थतः।।६२।।

उक्त सभी देवताओं के भी ध्येय सेव्य पूज्य देवता परमात्मा को जो व्यक्ति प्रणाम भी नहीं कर पाता और न थोड़ा जल या पत्ता अर्पित करता है उसका जीवन देखने में भले अच्छा हो किन्तु वह अच्छाई केवल धोखा होती है। उसकी बुद्धि उसे वास्तव में उत्तरोत्तर नीचे की ओर बढ़ाती रहती है।

विशेष–उपलब्ध विश्व के मूल तत्त्व का चिन्तन करते रहना अच्छी बुद्धि की पहचान होती है। वह चिन्तन सदा उत्तम अवस्थायें भी स्वतः प्राप्त कराता रहता है। अर्चा चिन्तन में चारुता लाती है।

चिरविचारविरागविभावितो–

ऽप्यजितकर्मसु चेन्न कृतादरः।
सुचिरसुप्तबहिःस्पृहया पुमान्
अजितया नितरामपनीयते।।६३।।

सत्कर्मों के अभाव में ज्ञान की विफलता बतलाते हैं। कोई पुरुष चाहे जितने दिनों तक वेदान्त तत्त्व का चिन्तन करे और अपनी ओर से वैराग्य धारण किये हो किन्तु यदि वह जगन्नियन्ता परमात्मा के प्रति निर्भर हो कर उनकी सन्तुष्टि के लिए कर्म करने में आदर भाव नहीं रखता तो शबदादि विषयों के प्रति अनादि काल से बनी हुई वह वासना जिसे जीतना उसके वश की बात नहीं है, उभर कर कल्याणमार्ग से बहुत दूर ले जाती है।

हृदयदीपनिसर्गविनिर्ब्रज-
त्कुटिलकज्जलकामनिवारणम्।
श्रुतिरुदाह चरैवगिरा भृश-
न्तदनुवादपराः स्मृतयः शतम्।।६४।।

हमारा हृदय एक दीपशिखा सा है। उससे स्वभाव से ही कालिख की सीधी टेढ़ी रेखाओं के समान सामान्य और निन्दित काम भावना बनती रहती है। वह हमें ध्येय आत्मतत्त्व से भटकाती रहती है।

हम न भटकें इसके लिए श्रुति हमें ''चर एव चर एव'' यानी सदा सक्रिय रहो का उपदेश देती है। उसी का अनुवाद सैकड़ों स्मृति वचन हैं जो भगवत्सेवारूपी बहुत से कर्मों के विधान हैं।

जननरक्षणसंहरणात्मिका
अनुसवं जडजंगमजाः क्रियाः।
हरिकृताः सकला इति जानतां
न हरितोषमृतेऽस्ति कृतेः फलम्।।६५।।

विश्व में स्थावरजंगम प्राणियों के द्वारा सृष्टि रक्षा और विनाश के कर्म देखे जाते हैं। वे सारे कर्म भगवान् के संकल्प और प्रेरणा से होते हैं। यह तथ्य जिनके ध्यान में रहता है वे समझते हैं सभी कर्मों के नित्य सफल प्रेरक परमात्मा को कर्मों से एक बड़ी सन्तुष्टि होती है। क्योंकि वे कर्मों के परिणामों को बहुत दूर तक देखते हैं। वे सभी परिणाम उनके बांछित होते हैं। अन्यथा उनकी निष्पत्ति न हो। तब मानना पड़ता है कि सभी कर्मों का मुख्य फल होता है भगवत्सन्तोष। तदनुसार मेरे द्वारा भी जो शुभाशुभ कर्म होते हैं उनसे भगवान् को जो सन्तुष्टि होती है उसकी तुलना में अपनी

सन्तुष्टि और असन्तुष्टि का कुछ महत्त्व नहीं है। यह बात मन में बैठ जाने से सदा समभाव मन में स्वतः बैठ जाता है। तब तत्त्वबोध उत्तरोत्तर स्थिर होता और विषयों के प्रति राग घटता जाता है।

विशेष-कर्मों के प्रति स्वयं के कर्ता होने के अभिमान और फल की इच्छा से हम फलों से बँधते रहते हैं। यही संसारबन्धन है। जब हम तत्त्वबोध होने से कर्ता भोक्तापन से अलग होंगे तब अशुभ कर्म स्वतः बन्द होंगे और शुभ कर्मों का फल क्रम से बासना क्षय के द्वारा मोक्ष होगा।

निजमनुत्तमरूपमजानतां
विषयतः सुखधीरूपजायते।
तदुलब्धिकृतेऽप्यशुभाः क्रिया
भवतरुद्विफलश्च विवर्धते।।६६।।

ज्ञानानन्दमय अपने अप्राकृत शुद्ध रूप को न जानने के कारण बाहरी विषयों से सुख मिलने की कल्पना होती है। उन्हें पाने के लिए अशुभ कर्म भी होते हैं और शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के फल देने वाला संसारवृक्ष भी बड़ता रहता है।

अत इहैव समस्तसमीहितैः
सुविहितैः स्वमवेहि गृहाण च।
निपत मा विषयोत्मककर्दमे
श्रुतिपथैव चरैव चरैव च।।६७।।

उक्त संसारवृक्ष को समाप्त करने के लिए शास्त्र विहित स्वरूपानुरूप शरीर मानस वाचिक चेष्टामय कर्मों से इसी जन्म में अपने स्वरूप को समझो और ध्यान की पकड़ में लाओं। विषयात्मक कीचड़ में मत गिरो। श्रुति के आदेश से श्रुतिविहित मार्ग पर चलते रहो, चलते रहो।

बहुविधा विषया बहुदिग्गताः सुबहुरूपरसाः स्वधियं नरम्।
रमयितुम्प्रभवन्ति न कंजगम् मधुकरं त्रिगुणा मलयानिलाः।।६८।।

विषय बहुत प्रकार के हैं, बहुत दिशाओं में बिखरे हैं, उनके रूप रस गन्ध आदि गुण एक से एक अनोखे हैं। अज्ञानियों को उनसे सुख का अभाव होता रहता है किन्तु वे सारे विषय उस पुरुष को अपने में रति नहीं दे पाते जिसका ध्यान अपने स्वरूप में ही रहता है। वैसे ही जैसे कमल के मध्य बैठे भौंरे को शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन में आकर्षण नहीं होता।

विविधमंजुलकोमलगन्धिभिः सुकुसुमैः सुफलैर्ललिते बने।
निजमदेन मुदा भृशगन्धिना न विचरन् हरिणश्चकितायते।।६९

अनेक प्रकार के रमणीय कोमल गन्ध वाले सुन्दर फूलों और अच्छे फलों से आकर्षक वन के अन्दर भी, वह मृग उन फल फूलों से कभी चकित नहीं होता जो अपने तीव्र गन्ध वाले कस्तूरी से स्वयं प्रसन्न रहता है।

प्रतिपदम् प्रचकास्त्यनुमापदं
श्रुतिपदप्रथितंच निरापदम्।
पदमदोऽमृगयन्त मनीषिणः:
प्रवद चित्रपदं किमु तत्पदम्।।७०।।

व्याख्या-प्रतिक्षणम् अहमिति मन्दम् प्रथतें ज्ञानाद्यधिकरणतयाऽनुभीयते। बालाग्रशतेत्यादिश्रुतिवचनशतेन प्रतीयते। अस्य स्वरूपं न केनापि क्षीयते हीयते बा। इयं साकल्पेन रूपगुणसहकारिकर्मादिसाहित्येन आसृष्टेर्मनीषिणो वेदितुम्प्रयतन्ते। आश्चर्यविषयस्तद्रूपं किमिति स्पष्टमाख्याहीति प्रश्नः। प्रत्यगात्मेत्युत्तरम्।

जो सदा ही ''मैं'' के रूप में सबको विदित रहता है, जो ज्ञान आदि गुणों के आश्रय के रूप में अनुमान का विषय होता है, जो ''बालाग्रशतभागस्य'' इत्यादि सैकड़ों श्रुतिबचनों के द्वारा भी जाना जाता है, इसका रूप कभी घटता बढ़ता नहीं। फिर भी इसे रूप गुण सहकारी कर्म आदि के साथ विशद रूप से जानने के लिए मनीषी जन सृष्टि के आरम्भ से ही प्रयत्नशील हैं, बतलाओ, आश्चर्यमय वह विषय क्या है ? उत्तर है आत्मस्वरूप।

प्रयतनं किल संसरणावहम्
प्रयतनंच जगत्तरणावहम्।
स्वमविविच्य कृतं किल संसृतिं
वहति तत्तु विविच्य विमुक्तिदम्।।७१।।

प्रयत्न आत्मा का सहज गुण है। वह सदा जारी रहता है। स्थूल शरीर के अभाव में भी सूक्ष्म भूतों के प्रति उसके कुछ-कुछ अचिन्त्य प्रयत्न होते रहते हैं। इसी से वह बार-बार स्थूल शरीर भी बना लेता है। जब तक स्वरूप का विवेक नहीं होता तब तक उसके सारे प्रयत्न संसार बन्धन के कारण बनते हैं। विवेक होने पर वे ही मोक्ष के कारण बन जाते हैं। ज्ञानपूर्वक किये हुए कर्म अज्ञानावस्था के कर्मों से अत्यन्त विलक्षण होते हैं।

प्रयतनाद् यतनाय च जायते
वपुरयत्नमिदन्तु मृतेः परम्।
यतनमस्तु सुधीजनलब्धधी
सहकृतं कृतमात्रनिवृत्तये।।७२।।

यह शरीर चेतन के अपने प्रयत्न से बनता है सफल प्रयत्नों के लिए। ऐसी स्थिति में जीवन अवधि में इसमें निष्क्रियता नहीं आ सकती। कर्म तो इससे होते ही रहते हैं। कर्मों को पूर्ण सफल बनाने के लिए आत्मतत्त्व के सक्रिय ज्ञाता महापुरुषों से वह परामर्श ले लेना चाहिए जिसके माध्यम से हुए कर्मों से अपने वे सारे सम्बन्ध समाप्त हो जायेंगे जो संसार अवस्था में अज्ञानमय कर्मों से बनते रहते हैं। ऐसी स्थिति आते ही मोक्ष हो जाता है।

स्मृतिहरा विषयाः खलु सेन्द्रिया
विषयि चैव मनः प्रबलन्ततः।
मतिरनात्मरता प्रबला ततः
स खलु कामरिपुर्वलवत्तमः।।७३।।

हम अपने स्वरूप के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण से जो भी कुछ जान पाते हैं उस जानकारी की स्मृति नहीं हो पाती। इन्द्रियों से जुड़े शब्दादि विषय आत्मा की स्मृति नहीं होने देते। विषयों से जुड़ी इन्द्रियाँ हमारे परमार्थपथ के विरुद्ध ही रहती हैं। विषयबासनाओं का केन्द्र बना हमारा मन इन्द्रियों से अधिक बलवान शत्रु है। धर्मपत्नी के तुल्य, हमारी बुद्धि शब्दादि विषयों के निरूपण में लगी होने से होने से मन की अपेक्षा अधिक शत्रु बन जाती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि के परस्पर साहचर्य से

उत्पन्न अचानक ही हमारे चित्तरूपी प्रांगण में खड़ा कामरूपी वह शत्रु सब से बड़ा होता है जो हमारे प्रमाद के फलस्वरूप हमारी पकड़ से बाहर ही रहता है।

प्रकृतकर्मफलान्नयहेतवो
महदहंकृतितद्भवखासवः।
मनसि काममुखा अपि विक्रिया
रिपुगणा अनुयान्तित सुहृत्तया।।७४।।

प्रारब्ध कर्मों के फलों से जोड़ने के लिए महत्तत्त्व अहंकार और उनसे उत्पन्न इन्द्रियाँ एवं प्राण आत्मा के साथ रहते हैं। ऐसे ही मन में उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध आदि शत्रु भी मित्र जैसे लगते हुए साथ रह कर प्राचीन कर्मों के फलों से आत्मा को जोड़ने में सहायक होते हैं।

भगवतो दयया श्रुतिविद्यया
व्रतयमादिसमाधिभिरात्मनः।
सकलमेव कृतम्प्रविलीयते
सहजकाममरिपुर्यदि मीयते।।७५।।

भगवान् की असाधारण कृपा से वेदान्त विद्या प्राप्त होती है। तब विद्या की सुरक्षा के व्रत अपनाये जाते हैं। उनके सहयोग के रूप में यमनियमादि अंगों के साथ समाधि का भी अभ्यास होता है। इन उपायों से वासनाक्षय के फलस्वरूप कामरूपी प्रबल शत्रु यदि मर जाये तो चेतन के किये सारे कर्म एकदम नष्ट हो जाते हैं और मोक्ष का द्वार खुल जाता है।

अनियतेन्द्रियमानसबुद्धिभि-
र्बलमवाप्य विमुक्तिपथे स्थितः।
हरति चेतनसाधनसङ्ग्रहं
सकलमेव स दस्युरवारितः।।७६।।

जिनकी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि व्रतपूर्वक सतत अवधान के अभाव में वश में नहीं हैं उनका वह अनियन्त्रित कामरूपी दस्यु उन इन्द्रियादि से ही बल पा कर चेतनद्वारा जोड़े गये मोक्षमार्ग के सारे साधनों का हरण करता रहता है।

न स जहौ गिरिशं विषभक्षिणं
न च विधिं तदधीनकथा वृथा।

स तु भवेऽत्र सदैव सुरक्षितो
यमनुरक्षति चक्रधरः स्वयम्।।७७।।

उस काम ने घोर हलाहल विष का भक्षण करने वाले निर्जन हिमगिरिशिखर में निवास करने वाले शिव को नहीं छोड़ा। उन्हें भी अपने चक्कर में कई बार डाल दिया। परमेष्ठी ब्रह्मा तक को नहीं छोड़ा, तब उन देवों के अधीन जीने वाले जीवों की चर्चा ही व्यर्थ है। फिर भी इस विषम संसार में वह चेतन सदा ही सुरक्षित रहता है जिसकी रक्षा सुदर्शन चक्रधारी परमात्मा नारायण सदा करते रहते हैं।

तमनुरक्षति चक्रधरः स्वयं
स्वमखिलम्मनसा वचसाऽर्पयन्।
भगवते यततेऽविरतं सुधी-
र्य उपशान्तसमस्तमनोरथः।।७८।।

उस तत्त्वनिष्ठ (सुधी) की रक्षा चक्रधारी भगवान् सदा करते हैं जो अपना सर्वस्व मन से और वचन से भी नित्य अर्पण करता हुआ भगवत्प्रीतिमात्र उद्देश्य से निरन्तर कर्म करता रहता है और निष्ठापूर्वक किये उन कर्मों से जिसके सारे मनोरथ शान्त हो चुके होते हैं।

विषयसंगभवाः स्मृतिवासना अविदिता निवसन्ति चिदन्तरे।
भगवताऽपि च तत्र सता धृताः स्मृतिकृते प्रभवन्ति न ताः क्वचित्।।७९।।

विषयों के प्रति लगाव के फलस्वरूप उनकी बार-बार याद दिलाने वाले संस्कार चेतन के चित्त में अज्ञात रूप से सुरक्षित रहते हैं। यदि वे जाने जाते तो उनको मिटाने का कोई सफल मानस उपाय किया जाता। अज्ञात रहने से उनके विरुद्ध किये गये उपायों का कोई परिणाम तत्काल समझ में नहीं आता। इसी से मोक्षोपाय विफल होते रहते हैं। किन्तु शरणागतरक्षाव्रती भगवान् अन्तर्यामी रूप से उसी चित्त के अन्दर निवास करते हैं जिसमें विषयों के संस्कार सुरक्षित रहते हैं। वे जिसकी तत्काल रक्षा चाहते हैं उसके संस्कारों को ऐसा नियन्त्रित रखते हैं कि वे कभी भी उभर कर स्मृति का रूप नहीं ले पाते।

विशेष-चेतन आत्मा विषयों से संसर्ग बना कर उनका चिरकाल तक सुखमय अनुभव करने में समर्थ और स्वतन्त्र होता है किन्तु अनुभवों के फलस्वरूप चित्तरूपी प्रांगण में बने संस्काररूपी मलिनता को मिटाने में वह

सर्वथा असमर्थ होता है। जब किसी चित्तरूपी प्रांगण में भगवान् स्वेच्छा से विराजना चाहते हैं तब उसकी सफाई वे स्वयं अपने संकल्प से अपना मान कर कर लेते हैं। देखिये (भागवत १।२।१७) ''हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्।

विषयरागमलीमसमर्पणं
न तनुते हरिचेतसि तर्पणम्।
सुचरितैर्विबुधैः सुचिरश्रुतै-
र्विमलधीः कुरुते विधिनाऽर्पणम्।।८०।।

विषयासक्ति से मलिन समर्पण का भाव भगवान् को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। विषयों के प्रति स्पृहा का त्याग होने पर ही समर्पण वैध होता है। उक्त त्याग की अवस्था तब प्राप्त होती है, जब निष्ठावान् विद्वानों से चिरकाल तक शास्त्र श्रवणपूर्वक सत्कर्मानुष्ठान होता रहता है। समर्पण की प्रक्रिया पूरी होने में अनेक जन्म लग सकते हैं।

स्मृतिहरं सहजं रिपुमात्मनः
कृतिशरैः सुमतिः फलनिस्पृहः।
प्रतिनिहत्य वितत्य यशोऽमलं
विशति तत्परमम्पदमव्ययम्।।८१।।

कोई तत्त्वनिष्ठ महापुरुष फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान के त्यागरूपी निष्ठा से किये कर्मरूपी बाणों से स्वरूपबोध का हरण करने वाले अपने सहज शत्रु काम का प्रतिघात करके इस लोक में निर्मल यश फैला कर वेदविदित परमपद में प्रवेश करता है।

स्वविदे जितकामाय हरिः कर्माह विस्तृतम्।
वसुनेत्रमितैः पद्यैस्तदेवात्र निरूपितम्।।८२।।

जिसे आत्मस्वरूप का ज्ञान हो और चित्त को वश में करके फलेच्छा हेतु काम को भी जिसने जीत लिया है ऐसे अधिकारी के लिए कर्मयोग सफल होता है, ऐसा उपदेश तीसरे अध्याय में भगवान् ने विस्तारपूर्वक दिया है। वही यहाँ (२८) अट्ठाईस पद्यों में संक्षेप से प्रस्तुत किया गया।

तृतीय अध्याय समाप्त

अथ चतुर्थाध्यायः

भगवता जगदादिभवान् जनान् प्रकृतकर्मफलान्वयवारणम्।
करुणया श्रुतितत्त्वमुदीर्यते सुकृतिना तु तदाद्रियतोखिलम्।।८३।।

प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा, प्रजापति, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि सक्षम कर्मयोगी और सनकादिकुमार नारद आदि सिद्ध योगी ज्ञानी महापुरुष होते हैं। हम जैसे क्षुद्र जीवों को भी संसारबन्धन बुरा लगता है पर प्रमादग्रस्त हम स्वयं अपने अनुभवों को पकड़ नहीं पाते। उक्त ब्रह्मा आदि तेजस्वी शक्तिमान् महापुरुषों को संसार ज्यादा खलता है। वे जल्दी छूटना चाहते हैं। भगवान् दया से उन्हें मोक्ष का वास्तव सनातन उपाय श्रुतिप्रसिद्ध निष्काम कर्मयोग बतला देते हैं। मायामयी सृष्टि का प्रयोजन भोग और मोक्ष दोनों है। मायाजनित अज्ञान भोग की ओर बढ़ाता है एवं माया के विकार मन इन्द्रियों से तत्त्वनिष्ठापूर्वक किये कर्मों से मोक्ष होता है। माया जीवों की सहायता दोनों तरह से करती है। मायिक करणकलेवर के अभाव में कोई पुरुषार्थ नहीं बनता। कोई भी शरीर फलदायक प्रारब्ध कर्म से बनता है। अतः शरीरों का फलभोग से वंचित रहना असम्भव है। एक फलभोग अपने समय में अज्ञान के सहारे बहुत से नये कर्म करा देता है। एक केस लड़ते समय बहुत से परिचय और अनुभव हो जाते हैं। जो आगे चलकर एक व्यसन का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार अज्ञानमय कर्म अपनी सन्तान बढ़ाता रहता है और मुक्ति का कोई खुला अवसर नहीं बनता। प्रारब्ध भोगकाल में ही भगवत्कृपामूर्ति किसी सदाचार्य के अनुग्रह से क्रमिक तत्त्वबोधपूर्वक तत्त्वनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। तब जो कर्म होते हैं वे तत्त्वज्ञान के प्रभाव से मोक्ष के हेतु बनते जाते हैं। कर्म करता हुआ ही पुरुष हनुमान् जी की तरह ज्ञानिनामग्रगण्यम् कहलाने लगता है एवं जनकादि की तरह तत्त्वबोपदेशक हो जाता है। स्वयं मुक्त होता और दूसरों के भी अपने कल्याणमय मोक्षमार्ग में अग्रसर करता रहता है। भगवान् के बतलाये मोक्षमार्ग को साधक अपने सुकृताधीन सत्त्वगुण के तारतम्य से न्यूनाधिक अपनाते हैं। कोई परम सात्त्विक पूरा अपना लेता है।

भगवदाश्रयणेन विना भवा-
न्न विगमो भविनामिति निश्चितम्।
अथ तदाश्रयणन्त्वनुरागतो
गुणगणानुभवात् स तु दर्शनात्।।८४।।

भगवान् का आश्रयण प्रथम आचार्य के रूप में, स्वामी के रूप में, शेषी के रूप में, नियामक के रूप में, सन्मार्ग में, सहायक के रूप में, सुहृद के रूप में और नित्य ध्येय के रूप में किये बिना संसार से मुक्ति सम्भव नहीं है, यह निश्चित है। उनका आश्रय लेना अनुराग होने पर और अनुराग भी उनके गुणसमूह का स्पष्ट अनुभव होने से होगा और वह अनुभव भी साक्षात्कार से सम्भव है।

नरसमाकृतिमान्नरचेष्टिते–
नृगतभावनया मृदुभाषितैः।
सह समाश्रयणौपयिकान् गुणान्
प्रकटयन् निकटे वसति प्रभुः।।८५।।

भगवान् सात्त्विक जीवों का संसार से उद्धार के लिए अपने गुणों का अनुभव कराना चाहते हैं। इसीसे वे बहुत से अवतार लेते हैं। इसी से मानवव जैसा आकार वैसी ही चेष्टा, वैसी ही भावना के साथ सम्भाषण आदि के साथ आश्रय लेने के उपयुक्त गुणों का अनुभव कराने के लिए चिरकाल तक मानवों के निकटतम बन कर रहते हैं। उस समय भी उनका रहस्य कतिपय सात्त्विक भाग्यशाली महापुरुष ही समझ पाते हैं।

न कृतकर्मफलाय हरेर्जुनु–
र्भवति नास्य मृदादिमयी तनुः।
न तमसाऽऽव्रियतेऽस्य मतिः सती
भवति तेन गुणैर्भविनां गतिः।।८६।।

परमात्मा का जन्म संसारी जीवों की अपेक्षा अति विलक्षण होता है। उनका जन्म प्रारब्धीन नहीं होता। इससे कोई फलभोग भी नहीं होता। उनका शरीर पांचभौतिक नहीं होता। उनका नित्य एकाकार ज्ञान जीवों की भाँति तमोगुण से दबता नहीं है। इसी से उनके शील सौहार्द मार्दव आर्जव आदि गुण संसारियों के उद्धार में सफल होते हैं।

इति विदन् यतते स्वविमुक्तये
पथि चलन् जगदीशदयामये।
हरिगुरूक्तिहताखिलदूषण–
स्तनुलये भविता भगवज्जनः।।८६।।

उक्त तथ्य जानने वाला अधिकारी, प्रभु की दया जिसमें प्रधान है जैसे प्रपत्तिमार्ग पर चलता हुआ अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है। भगवान्

के रक्षा प्रतिज्ञा वचन और आचार्य द्वारा उसका विशद् भावार्थ समझते रहने से उसके चित्त के सारे दोष नष्ट हो जाते हैं जिससे वह शरीर छूटते ही भगवान् का सदा-सदा के लिए सेवक हो जाता है।

बहुपुमर्थमयन्त्रिगुणं जगद्
विविधकर्मकलापफलात्मकम्।
सृजति पात्युपसंहरतीश्वरो
न विषमो भविनां न फलस्पृहः।।८७।।

प्राणियों के कर्म असंख्य प्रकार के होते हैं। इससे उनके फलों की भी सीमा नहीं है। सभी फल इस संसार में ही मिलते हैं। ऐसे संसार को भगवान् त्रिगुणों के सहारे जीवों के कर्मों के अनुरूप बनाते बचाते और विगाड़ते रहते हैं। अनन्त विषमताओं से भरे इस संसार को बनाने पर भी भगवान् में जीवों के प्रति विषमता का दोष नहीं लगता। उन्हें उनके कर्मों के अनुसार ही शुभाशुभ की उपलब्धि होती है। सृष्टि से भगवान् को अपना कोई स्वार्थ भी नहीं है।

न फलमिच्छति किंचन कर्मिणां
विषमताम्भविनां न च वांछति।
सुकृतये भविनांच विमुक्तये
करुणयैव जगगत्सृजति प्रभुः।।८८।।

संसार में जीवों को अपने-अपने कर्मों के फल प्रकृति के नियमों से मिलते हैं। प्रकृति ही उन्हें कर्मानुसार हाथी से चींटी तक, एवं देव या असुर योगी या दस्यु के रूप देती रहती है। संसार के निर्वाहक होने से प्रभु प्रकृति के नियमों को उपेक्षाभाव से चलने देते हैं। किन्तु संसार रचने का उनका मुख्य उद्देश्य यही रहता है कि जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त कर अच्छे कर्म करें, जिससे उनके वे पुराने कर्म नष्ट हो जायँ जिनसे संसारबन्धन बना रहता है। आगे वे प्रतिबन्ध हटने से स्वयं मुक्त हो जायँ। ऐसी दयापूर्ण भावना से ही प्रभु जगत् की रचना करते हैं।

अवदधान इदम्भगवद्गुणं
श्रुतिरहस्यमपास्य फलस्पृहाम्।
भगवते घटतेऽस्य निरोधकं
शकलशः प्रविनश्यति पातकम्।।८६।।

भगवान् को उक्त दयाप्रधान गुण का, जो कि श्रुतियों का एक रहस्य

है, ध्यान रखता हुआ अधिकारी फलेच्छा का त्याग करता हुआ केवल भगवान् की प्रीति के लिए कर्म करता रहता है। इससे धीरे-धीरे उसके वे सारे पाप कट जाते हैं जो उसे संसार में अनादि काल से बाँधे रहते हैं।

भवतु कर्म मतम्भवबन्धनम्
भवतु शर्मण आत्मरतिर्दृढा।
विषयरागहतन्तु मनो नृणां
नियतमात्मनि नैव निरुध्यते।।६०।।

यद्यपि कर्म संसार के बन्धन माने गये हैं और आत्मकल्याण का मुख्य साधन आत्मस्वरूप के प्रति दृढ़ निष्ठा है किन्तु मानव का मन अनादिकाल से विषयों के प्रति अनुराग होने से बिगड़ा रहता है, वह आत्मस्वरूप में देर तक टिक नहीं पाता।

इदमवेत्य पुरा जनकादयो
भगवदाश्रयिणश्च महर्षयः।
भगवते शरणागतबन्धवे
विहित कर्मसु धर्मधियोऽभवन्।।६१।।

इसी तथ्य को ध्यान में रख कर प्राचीन काल में जनक आदि राजर्षि और भगवत्परायण महर्षि जन शरणागत बन्धु भगवान् की सन्तुष्टि के लिए कर्म करते रहना ही मोक्षधर्म मानते रहे हैं।

बहुविधानि हितानि विमुक्तये
निगदितानि भवन्तु यथा तथा।
नियतकर्मतया विहितानि यो
न कुरुतेऽधिकरोति न तेष्वसौ।।६२।।

शास्त्रों में मोक्षसाधक कर्म बहुत प्रकार के वर्णित हैं। उनका अनुष्ठान करने का अधिकार वर्णाश्रमोचित कर्म करते रहने पर ही प्राप्त होता है। अधिकार के बिना किये कर्म विफल होते हैं।

यदनिबार्यतयाऽऽदिशति प्रभु
र्यदि तदाद्रियते न चिराज्जनः।
कथमनन्तसुखोदयभूमिकां
स सहतामपराधिनि तादृशे।।६३।।

कोई स्वामी जिस कार्य के लिए अनिवार्य कर्तव्य बतलाता हुआ आदेश देता है उस कर्तव्य का चिरकाल से अनादर करने वाले अपराधी सेवक में

अनन्त सुखों के किसी साधन या उसकी तैयारी का सहन वह स्वामी कैसे करेगा ?

कतिपयक्षणकालमपीश्वरं
स्मरति नो विधृतासुरहर्मुखे
न जलमर्पयते रवये न तो
भवतिमुक्तिपथोऽस्म कथम्मतः।।६४।।

जो व्यक्ति प्रातःकाल श्वास रोककर कुछ ही क्षणों तक ईश्वर का स्मरण नहीं कर सकता, सूर्य को जल अर्पित नहीं करता, उन्हें प्रणाम नहीं करता उस विषयासक्त व्यक्ति को संसार से छूटने का मार्ग कैसे अच्छा लगेगा। सामान्य कर्मों से दूर व्यक्ति किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए बड़ा कर्म करने की बात भी नहीं सोच सकता। छोटे अधिकारों का पालन जो नहीं कर पाता उसके बड़े अधिकार स्वयं छूट जाते हैं।

भगवते घटमानकलेवरा
अथ तदीयगुणस्मृतितत्पराः।
अपि तदन्वयमात्मनि ये विदु-
र्भवभयं कलयाऽपि न यान्ति ते।।६५।।

जिनका शरीर भगवत्सेवा में लगा रहता है, जो उनके गुणों का स्मरण करते रहते हैं और जो अपने में भगवान् के साथ सम्बन्धों का ध्यान रखते हैं उन्हें थोड़ा भी संसारभय नहीं होता।

भगवदीयता स्वमथ स्वकं
सकलमेव सदैव विदन्ति ये।
यदपि तैर्विहितं वपुषा धिया
तदखिलम्भगवान् बहुमन्यते।।६६।।

जो लोग अपने आपको और आत्मीय सर्वस्व एवं सम्बन्धों को केवल भगवान् का माना करते है शरीर, मन बुद्धि से जो थोड़ा भी कर्म करते हैं उन कर्मों को भगवान् बहुत मान कर स्वीकार करते हैं।

यजनदानतपःस्वखिलं कृतं
सकलयोगपथेषु चिरं गतम्।
य इह सर्वसमर्पणभासुरा-
शयबशीकृतमाधवमानसाः।।६७।।

उन्होंने सारे यज्ञ किये, दान किये और तप भी कर लिये एवं योग के सारे मार्गों पर चिरकाल विचरण भी कर चुके, जिन्होंने निष्ठापूर्वक पूर्ण समर्पण के भाव से प्रकाशमान अपने चित्त के द्वारा श्रीपति भगवान् को वश में कर लिया है। पूर्ण समर्पण से प्रभु को जो सन्तुष्टि होती है वह उक्त यज्ञादि से नहीं होती।

यदपि कर्म भृशं हरिणाऽऽदृत–
म्परमकर्ममयं किल तन्मतम्।
स्वमतिवह्निहुताखिल कर्मणा–
मकृतमेव कृतम्मनुते हरिः।।९८।।

यद्यपि भगवान् ने समग्र गीताशास्त्र में कर्म को वरीयता दी है किन्तु उनका तात्पर्य ज्ञानप्रधान कर्म में है। जिन्होंने अपने स्वरूप ज्ञानरूपी अग्नि में अपने प्राचीन सारे कर्म जला डाले हैं उनके किये सारे कर्मों को भगवान् ज्ञानयोग के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

प्रधानं कर्मणां ज्ञानं शरीराणां शिरो यथा।
हरिणोक्तन्तत्तु पद्यैर्मुनिचन्द्रभितै (१७) धृतम्।।९९।।

भगवान् ने अपने गीताशास्त्र में कर्मों का सार तत्त्वबोध को माना है, वैसे ही जैसे शरीरों का सार सिर होता है। विस्तार से वर्णित उक्त अर्थ को ही यहाँ सत्रह (१७) पद्यों से समझा गया है।

चौथा अध्याय समाप्त हुआ

अथ पंचमोऽध्यायः

परिचिते विहिते पथि संचारन्
पदमावाप्तुमलं न विचासयन्।
तदिव निःस्पृहवोधमयैः कृतै–
रकृतकं त्वरितम्पदमाप्नुयात्।।१००।।

लोक में देखा जाता है कि जो मार्ग जाना पहचाना हो और उसमें चलने की कोई प्रेरणा भी मिल रही हो तो उस पर चलना आसान होता है और गन्तव्य स्थान भी मिल जाता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति मार्ग गन्तव्य और प्रेरणा के विषय में अच्छी जानकारी तो रखता है किन्तु साममर्थ्य रहते भी उत्साह की कमी से चल नहीं पाता तो उस व्यक्ति को वह स्थान नहीं

मिलता। यही नियम मोक्षमार्ग में भी है। वैराग्यपूर्ण स्वरूप निष्ठापूर्वक किये शुभ कर्मों से ही नित्य मोक्षप्रद बिना विलम्ब के मिल जाता है।

विशेष–बिना कुछ किये कोई कुछ बड़ी उपलब्धि नहीं होती। चित्त में विषयरागजनक संस्कारों का अत्यन्ताभाव मोक्षमार्ग की सब से बड़ी उपलब्धि है। इसके बाद मुक्ति के बिलम्ब न होना सर्वसम्मत है। श्रुतियों में कर्म की प्रेरणा अवश्य है फिर भी मोक्ष का साधन ज्ञान को ही माना गया है क्षणध्वंसी कर्म को नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ कर्म से मोक्ष की बात अर्थवाद हो सकती है, ऐसी समझ में आता है। यह समझ अपनी जगह ठीक हो सकती है किन्तु मोक्षदायक तत्त्वज्ञान को समझना आवश्यक है। आत्मा जैसे नित्य एवं ज्ञानानन्दमय है वैसे ही भगवान् का शेष भी है। कार्यकारणभूत प्रकृति भी उनका शेष है किन्तु ज्ञानवान् होने से आत्मा का शेषत्व प्रकृति की अपेक्षा भगवान् को अधिक प्रिय है। संसारावस्था में आत्मा का स्वाभाविक नित्य विभु धर्मभूत ज्ञान पूर्व अज्ञानमय कर्मों के प्रभाव से अति संकुचित अवस्था में रहता हुआ गुणमयी बुद्धि के निकृष्ट परिणामों के फलस्वरूप स्वयं भी निकृष्ट विषयों से जुड़ता हुआ आत्मा को भी निकृष्ट दशा में प्रदर्शित करता है किन्तु ज्ञान–वैराग्य–साधना से कुछ अच्छी स्थिति में आ जाता है तब वह भगवान् को कुछ और ही प्रिय होता है एवं जिसे अचल स्वरूपनिष्ठा प्राप्त हो जाती है उसे भगवान् ज्ञानी कहते हुए अपना आत्मा कहते हैं। ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। भ०गी० ७।१८।। ज्ञान की जिस असाधारण अवस्था से चेतनतत्त्व भगवान् के द्वारा अपना आत्मा कहा जाता है उसे आचार्यगण एक उत्कृष्ट प्रकार का शेषत्व कहते हैं। ''अतिशयाधान हेतुत्वं शेषत्वम्'' इस लक्षण के अनुसार परमात्मा में शेष द्वारा कोई ऐसा अतिशयाधान होता है जो विकार की श्रेणी में नहीं आता। उस शेषत्व पर प्रपत्ति–निष्ठ सत्पुरुषों ने विस्तार से विमर्श किया है। वह शेषत्व ही निष्काम कर्मयोग का मूलभूत प्रयोजन है। उसे समझे बिना कर्मयोग अधूरा ही रहता है। यह सन्दर्भ निर्विशेष एकात्मवादी चिन्तनधारा में बह रहे लोग बहुत कम ही समझ पाते हैं। इसका विस्तार हिन्दी धारा में होगा।

सुमतयः कृतिनोऽप्युभये शुभाः
सुमतिकर्मभया नितरां शुभाः।
इति यथा जगतीह विभाव्यते
परमदाय गतेषु तथेष्यते।।१०१।।

लोक व्यवहार में किसी भी महत्त्व के कर्म का प्रयोजक और निर्वाहक एक व्यापक ज्ञान होता है। उस ज्ञान के बिना कर्म की कल्पना नहीं होती, इससे केवल ज्ञान को भी समाज सम्मान देता है। फल का लाभ कर्म से ही होता है इससे जो व्यक्ति ज्ञानवान् न हो कर केवल प्रशिक्षण के बल पर कर्म करता है उसे भी फलापेक्षी समाज सम्मान देता है। किन्तु वह व्यक्ति बहुत ही सम्मान पाता है जो व्यापक ज्ञान रखता है, प्रशिक्षण देता है और ज्ञानानुरूप कर्म भी करता है। मोक्षमार्ग में भी यही नियम लागू होता है। अज्ञानावस्था में भी विफल या मन्दफल कर्म होते हैं। ज्ञान से कर्मों का सुधार होने से फल उत्तम और शुद्ध मिलता है। इससे केवल ज्ञानवान् को और केवल कर्मशील को भी समाज बिना भेदभाव के सम्मान देता है। किन्तु वह व्यक्ति सर्वाधिक और निर्विवाद सम्मान का पात्र होता है जो ज्ञानवान् होता हुआ सतत कर्मशील भी होता है।

यदपि वेत्ति शुभं स्वहितं जनः
स्वकृतिसाध्यमथायि न वांछति।
प्रकृतभोगमये पथि कर्मभि
निजकृतैर्नियतस्तु विभीयते।।१०२।।

लोक में देखा जाता है कि मनुष्य शुभ कर्मों को समझता है, उनसे अपना हित भी समझता है, उन्हें अपने लिए कठिन भी नहीं मानता, फिर भी करना नहीं चाहता। ऐसा इस कारण होता है जिनका फल निकट भविष्य में मिलना होता है। वे कर्म ऐसे नये शुभ कर्म नहीं होने देते जिनके हो जाने पर उनका फल बाधित हो सके। बल्कि वे तो ऐसे ही मार्ग पर मनुष्य को चलाते हैं जहाँ उनका फल मिलने वाला होता है।

भवतु भव्यमतिः सुफलस्पृहा
प्रकृतिबन्धनिकृन्तनसाहसम्।
अविहतिर्मतिबांछितकर्मणा–
मत उदाह चरेति चिरं श्रुतिः।।१०३।।

बुद्धि निर्मल उदार और कल्याणमयी हो, उत्तम फलों के प्रति रुचि हो, आत्मा के प्रकृतिसम्बन्धों को काटने वाले उपायों के लिए साहस हो, बुद्धि कुण्ठित या बाधित न हो, इच्छायें अपूरणीय न हों, आरम्भ किये गये कर्म पूरे हों, इन सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए ही श्रुति चिरकालतक कर्म करने का आदेश देती है-चरैवेति, चरैवेति। शास्त्रीयकर्मनिष्ठ चेतन ही धीरे-धीरे कल्याण की ओर बढ़ता है।

अशुभकर्मरतैः सह संगतो
न मनसा यदि कर्मणि लिप्यते।
नृपसदस्यनुदाहृतदुर्मति–
र्न कुफलेन बलेन निवध्यते।।१०४।।

अपराध कर्मों में लिप्त रहने वालों का साथ होने पर भी यदि कोई व्यक्ति अपराध में मन नहीं देता तो किसी अपराध में पकड़े जाने पर भी अशुभ संकल्प प्रमाणित न होने पर बलर्पूवक उस पर कोई राजदण्ड नहीं थोपा जाता, ऐसा देखा जाता है।

इति जगाद पृथातनयं हरिः
प्रकृतिजान्यसुखानि चरन्त्वलम्।
प्रकृतिजेषु न तेष्वसमः पुमां–
नूचरतु चारुमतिर्धृतिमान् स्थिरः।।१०५।।

इसी लौकिक नीति के अनुसार भगवान् ने पार्थ से कहा है कि यदि प्रकृति के विकारों से बने शरीरों से बने शरीर प्राण और इन्द्रियाँ अपनी मूलभूत प्रकृति के अनुरूप कोई अशुभ चेष्टा करते हैं तो आत्मा को उनका साथ नहीं देना चाहिए। शरीर प्राण इन्द्रियों एवं अन्तःकरण से अपना भेद करना किसी सदाचार्य से सीख लेना चाहिए। वे बतलायेंगे कि मन के सारे संकल्प शारीरिक या मानसिक किसी अवस्था के फलस्वरूप अचानक क्षणिक रूप में आते-जाते रहते हैं। सभी संकल्पों को मान्यता देना और अपना मानना मोह से ही होता है। आत्मा को मोह से अलग रूप में अपनी पहचान रखनी चाहिए। श्रुति आदि प्रमाणों से अवगत अपनी निस्तरंग एकाकारता पर ध्यान रखना चाहिए। रोग की अवस्था में रोगी अपनी पहले की अच्छी अवस्था का स्मरण करके उसी अवस्था को पाना चाहता हुआ उपचार कराता और रोग मुक्त होने पर विशेष स्नान करता है। वह रोग को कभी महत्त्व नहीं देता। ऐसे ही प्रकृति के परिणाम प्राणों और इन्द्रियों के दोष से उनके ही द्वारा हुए किसी दुःसंकल्प को महत्त्व न देने से वह संकल्प या यदि अशुभ कर्म बनता भी है तो उसका दुष्परिणाम अधूरा और अप्रभावी होगा। उस परिणाम के प्रति भी आत्मा उदासीन रहेगा और अपराध के कुफल से बहुत अंशों में बचा रह जायेगा। स्वरूपनिष्ठा की यह महिमा है कि शारीर से अपराध हो जाने पर भी आत्मा दण्ड से बचा रहता है। क्योंकि वह तो नाशवान सभी शुभ फलों से भी अपने को तत्परता से अलग रखने का ध्यान रखता है।

चरित कर्म वपुः करणानिवा
किमु मनोऽर्थवती मतिरेव वा।
सकलयन्तृपदे नृपवत्स्थितः
किमु पुमान् कृतिमान् न तु केवलः।।१०६।।

देखा जाता है कि शरीर कर्म करता है। इन्द्रियों को भी कर्ता माना जा सकता है, उनके बिना शरीर से कर्म असम्भव है। प्राण के बिना तो इन्द्रियाँ भी विफल रहती हैं इससे कर्तापन उसमें भी मानना होगा किन्तु असल कर्ता मन है, वही प्राण आदि का नियन्त्रक और प्रेरक होता है। मन भी बुद्धि के अधीन होता है इससे कर्तृत्व का सब से अधिक अस्तित्व बुद्धि में है। वह बुद्धि प्रकृति के प्रथम परिणाम महत्तत्त्व का एक रूप है। आत्मा से प्रथम सम्बन्ध उसी का होता है। आत्मा के धर्मभूत नित्य ज्ञान का प्रसार उसी से होता है। वह त्रिगुणात्मक होने से अनन्त प्रकारों की होती है। उसके ही भेद प्राणियों में लक्षित होते हैं। आत्माओं में स्वतः कोई भेद नहीं है, इसी से एकात्मवाद प्रचलित है। उक्त बुद्धि भी जड़ होने से ज्ञान इच्छा और कृति (प्रयत्न) का आश्रय नहीं हो सकती। ज्ञान इच्छा और कृति का आश्रय ही कर्ता होता है। वह आत्मा के सिवा दूसरा कोई नहीं हो सकता और मुख्य कर्ता आत्मा को ही मानना पड़ता है। इसी से ब्रह्मसूत्र में ''कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'' इस सूत्र से उसे कर्ता सिद्ध किया गया है।

अवश्य ही आत्मा कर्ता है किन्तु जैसे बिना औजार के कारीगर एक सामान्य दर्शक ही रह जाता है, उसकी कारीगरी औजारों पर ही निर्भर होती है ऐसे ही प्रकृति परिणाम बुद्धि मन इन्द्रिय प्राणों के विविध सहकारों से ही शरीर के द्वारा आत्मा कर्ता होता है। अकेला वह कुछ करने की सोचता भी नहीं। वह तो परमात्मा की ही भाँति स्वयं आप्त समस्तकाम या निष्काम है तब उसे क्या पाना है जो कुछ करने को सोचे। इस तरह प्रकृति संसर्ग से कर्ता होता हुआ भी आत्मा स्वरूप से अकर्ता ही है। यह स्वरूपतः, या स्वतः उसका अकर्तृत्व ही संसार बन्धन से छुटकारा का मुख्य आधार होता है। इस तथ्य पर मुमुक्षु को सदा ध्यान रखना चाहिए।

यदि तु केवलताऽभिमताऽऽत्मनो
न च मताऽमतिजा गुणभोक्तृता।
यदि मंत जऽसंगनिवारणं
स्ववदधीत तदा स्वमकारणम्।।१०७।।

केवल आत्मा कर्ता भोक्ता नहीं होता। अनादि प्रकृति संग से ही यह दोष उसे प्राप्त है और यही संसार बन्धन है। अध्यात्मशास्त्रीय चिन्तनों से समझ में आ जाता है कि प्रकृति बन्ध के समय भी आत्मा पद्मपत्र की भाँति प्रकृति से और उसके परिणामों से लिप्त नहीं होता। अपनी इस निर्लेपता असंगता और सहज कैवल्य का ध्यान रखे रहने से ही विहित कर्मों के फलों के प्रति निःस्पृहता टिकती है और कर्मयोग ज्ञानप्रधान होने से मोक्ष का कारण बनता है, इससे इस तथ्य का ध्यान मुमुक्षु को सदा रखना चाहिए। जिस अज्ञान से जड़ प्रकृति का संग बना हुआ है, जिससे प्राकृत गुणों के प्रति भोग्यताबुद्धि से संसार बढ़ रहा है उस के निवारण का यह एक महान् उपाय है कि अपने को सदा ही प्रकृति से विलक्षण, उसके प्रति निरपेक्ष और स्वयं अकर्ता और अकारण समझते रहा जाय। ऐसा प्रमाद न आ पड़े कि कभी किसी प्राकृत तत्त्व में भोग्यताबुद्धि हो जाय।

सजडचेतन जातनियामकः
स्वयमयम्प्रकृतेः परिणामकः।
प्रतिकणेष्विव मेऽन्तरवस्थितो
घटयतेऽघटनीयमेपीश्वरः।।१०८।।

परमात्मा समस्त जड़चेतन समुदाय के नियामक हैं। प्रकृति के सामान्य विशेष सारे परिणाम ये अपने संकल्पमय नियन्त्रण से करते हैं। ये जैसे अणु-अणु में व्याप्त हैं प्रत्येक चेतन तत्त्व (जीव) में भी रहते हुए नियामक है, इससे मुझ से जो भी कुछ शुभाशुभ छोटा-बड़ा, सामान्य-असामान्य कृत्य होते हैं वे सब वास्तव में उनके संकल्प से होते है, मैं केवल माध्यम होता हूँ ऐसा ध्यान रखना चाहिए। इससे अपने में कर्तृत्व की कल्पना रुकती है।

विशेष-अपने स्वरूप के सतत चिन्तन में अपने को आकार-त्रयसम्पन्नरूप में, अर्थात् अन्तर्यामी नियामक भोक्ता शेषी परमात्मा के नियाम्य भोग्य और शेष के रूप में ही देखना चाहिए। आकारत्रय के सतत चिन्तन के बिना अहन्ता ममता का समूल नाश सम्भव नहीं है। कैबल्य का चिन्तन दोषों के विरुद्ध उपायों का उपक्रमस्थानीय है और आकारत्रयचिन्तन कर्मयोग के साथ होकर उपसंहार-स्थानीय हो जाता है। आकारत्रय की भावना दृढ़ होकर संसार का स्वयं नाश कर सकती है।

स्ववशताऽभिमता परमेश्वरे
श्रुतिविदाऽवधृता न तु नश्वरे।

परिमद्विषणे मयि पामरे
नियतभोगनियाम्यकलेवरे।।१०९।।

सभी संसारी जीव स्वाधीनता चाहते हैं किन्तु वह तो परमेश्वर में है। जीवों की स्वाधीनता देश काल अवस्था और विषयों से सीमित होती है। सतत परिणामी नाशवान् जड़ तत्त्वों की स्वाधीनता की कल्पना नहीं है। वेदादि शास्त्रों से संसारी और संसारोत्तीर्ण (मुक्त) जीवों की ईश्वराधीनता स्पष्ट रूप से समझ में आती है। मुक्तों को ईश्वराधीनता में ही अपरिमित आनन्द का अनुभव होता है। संसारावस्था में, जब कि सतत परिवर्तनशील प्रकृति से तालमेल बनाते ही रहना पड़ता है, जीव की स्वतन्त्रता अति-अल्प ही होती है। वह वास्तव में पराधीनता ही है, क्योंकि जीवन का प्रत्येक क्षण किसी न किसी अवांछित अकल्पित प्रारब्ध फलभोग से बँधा होता है।

इति विदन् हरितुष्टिदकर्मभि-
र्दिननिशाः क्षपयन्ननुभूतिभिः।
हरिगुणेषु तृणेष्विव लौकिके-
ष्वतितरां विमुखः प्रतिमुच्यते।।११०।।

इस प्रकार अपनी सतत पराधीनता का ध्यान रखता हुआ, अपनी शक्ति और सुविधा के अनुसार भगवत्सन्तोष के लिए केवल विहित कर्म करता हुआ, एवम् भगवान् के असीम कल्याण गुणों का मनन चिन्तन करता हुआ, लौकिक अर्थों के प्रति तिनकों की भाँति सदा उपेक्षा रखता हुआ अधिकारी प्रारब्ध क्षय के साथ मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

सुरनरादिषु यांनिषु संगते-
ऽनुगतकर्मवशः खलु चेतनः।
तदनुसारिधियम्प्रतिपद्यते
तदनुवांछति तद्वदपीहते।।१११।।

अनादि संसार में चेतनों के साथ उनके प्रारब्ध कर्म लगे होते हैं। वे उन्हें अपने अनुरूप देव मनुष्य या तिर्यक् योनियाँ देते रहते हैं। उन-उन योनियों के असाधारण ज्ञान संकल्प इच्छा और प्रयत्न होते हैं जो चेतनों को जन्म के साथ सहज ही मिल जाते हैं तब वे वैसा ही सोचने और चाहने लगते हैं।

विशेष-उक्त सामान्य नियम को ध्यान में रखने से अपनी जातीय संसारी अवस्थाओं पर टिकी आस्था घटने लगती है, इससे हर्ष शोक नहीं

होते, कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और संसार नहीं बढ़ता, मोक्ष का मार्ग खुला रहता है, उसमें मुमुक्षु की प्रगति जारी रहती है।

विदितवांछित चेष्टित भेदतः
सुरनरादिभिदाऽऽत्मनि नेष्यते।
प्रकृतकर्म फलाय धियं सती-
मसति वर्त्मनि वर्तयते सदा।।११२।।

ज्ञान इच्छा और प्रयत्नों के भेद से देव, मनुष्य, तिर्यग् योनियों के भेद होते हैं, वे भेद आत्मा में नहीं होते। वह तो सर्वत्र एकाकार ही रहता है। उसका धर्मभूत नित्य ज्ञान संसार अवस्था में प्रकृति परिणामभूत त्रिगुणमयी बुद्धि के द्वारा ही विषयों का ग्रहण करता है। उसका प्रारब्ध कर्म अपने फल देने के लिए तत्त्व-ग्रहणोचित सत्त्वप्रधान बुद्धि को भी रज तम के सहयोग से मिथ्या अर्थों के मार्ग से चलाता रहता है। संसार अवस्था में चेतन की सारी भूमिकाएँ अस्वाभाविक होती हैं। इससे मुमुक्षु साधक अपनी किसी भी भूमिका पर आस्था न रखता हुआ तत्त्वानुभवमय कर्मयोग के मार्ग पर चलता है।

सकलशास्त्ररहस्यविदं गुरुं
सदयमेति यदा कृपया हरेः।
स्वमवगच्छति नश्यति कर्म तद्
यदनुबद्ध उपैत्यसमा दशाः।।११३।।

अनन्त संसार कान्तार में अनादि काल से विचरण करता हुआ चेतन जब भगवान् की किसी विशेष कृपा के फलस्वरूप समस्त शास्त्र रहस्यों के अनुभवी दयावान् सदाचार्य की शरण में पहुँचता है तब वह अपने आप को समझ पाता है। समझने से उसका वह कर्मजाल नष्ट हो जाता है जिससे बन्धा होने से वह उत्तरोत्तर अपने स्वरूप के विरुद्ध भूमिकायें पाता रहता है।

स्वसुख एव निलीनमनोधियाम्
भगवते सुहृदे यततां सदा।
तनुभृतामपि मुक्तिसुखम् मतं
तनुलयान्तविलम्बितसम्पदाम्।।११४।।

स्वस्वरूप सम्बन्धी विशद शास्त्र ज्ञान हो जाने से,, बाहरी विषयों की अपेक्षा छूट जाने और आनन्दमय अपने आप में ही मन लगा होने से, एवम्

प्राणिमात्र के सुहृद् होने से अपने भी नित्य सुहृद् भगवान् के लिए कर्म करते रहने वाले अधिकारी सशरीर अवस्था में भी मुक्ति का बहुत कुछ सुख पाते रहते हैं। शरीर के साथ प्रारब्ध का भी क्षय हो जाने से उन्हें सायुज्य भी मिल जाता है।

कर्मणां शैघ्र्यसौकर्ये विशदं हरिणोदिते।
पंचमे शरभू (१५) पद्यैस्तददूरादिहेंगितम्।।११५।।

भगवान् ने पाँचवें अध्याय में बतलाया है कि मोक्ष के अन्य उपायों की तुलना में कर्मयोग शीघ्र फल देता है एवं यह जीव की सहज प्रकृति से मिलता है इससे इसका अनुष्ठान् आसान भी है। इसे न करने से प्रमाद का खतरा भी रहता है, स्वरूपबोध भूल सकता है इससे यही करना चाहिए। उक्त अर्थों को ही यहाँ १५ पन्द्रह श्लोकों से स्पष्ट संकेत में व्यक्त किया गया है।

पाँचवाँ अध्याय समाप्त

अथ षष्ठोऽध्यायः

मन इदम् बहिरिन्द्रियसंगतं
जगदलम् बहिरेव किलेक्षते।
सततभायुरयत्नपरोऽपि चिन्
मिहिरवद् विमुखस्य न लक्ष्यते।।११६।।

हमारा यह मन यद्यपि अन्तःकरण है, नाम के अनुसार इसे आन्तरिक सुख दुःखों की भाँति उनके आश्रयभूत चित् स्वरूप आत्मा का भी सन्निकर्ष (सम्बन्ध) बना ही रहता है इससे आत्मसाक्षात्कार सदा होते रहना चाहिए। वस्तुतः वह साक्षात्कार होता ही रहता है फिर भी बाहरी विषयों में आसक्ति की अधिकता के फलस्वरूप वह साक्षात्कार इतना नगण्य होता है कि उसके अस्तित्व में ही विवाद रहता है। इसका कारण स्वरूपविमुखता है। विमुखता की स्थिति में हम जैसे सूर्य को भी नहीं देखते वैसे ही सात रश्मियों की भाँति स्वतः एवम् बुद्धि सुख-दुःख, इच्छा द्वेष प्रयत्न इन छः गुणों के साथ सदा प्रकाशमान अपना चेतन सवरूप लक्षित भी नहीं हो पाता।

सुखमयो दिवि वा भुवि वा पुमान्
नरकमेव भुनक्ति न संशयः।
सकललोकनियन्तृपदोचितः
क्व च सुरासुखितो न सुखी मतः।।११७।।

कोई स्वर्ग में सुखी होता है, कोई पृथ्वी पर अपने को सुखी मानता है। आत्मस्वरूपसुख की तुलना में अन्य सभी सुख नारकीय दुःखों की ही श्रेणी में गिनने योग्य हैं। जैसे कोई व्यक्ति स्वतन्त्र प्रज्ञा पौरुष से समस्त संसार का नियन्त्रण करने में सक्षम् हो और वह किसी अनुचित स्थान पर शराब के नशे में सुख मान रहा हो तो उसकी वह अवस्था यातनामय दुःख की ही मानी जायेगी।

अत इदं सुधियाम् परमोचितं
यदपहाय धिया जडसंगमम्।
स्वमपनीतकुदर्शनदूषणं
सुमनसाऽऽकलयन्तु जितासवः।।११८।।

इससे जो सत्पुरुष शास्त्रों और शास्त्रज्ञों के द्वारा आत्मा के वास्तव स्वरूप के गौरव पर ध्यान रखते हों उन्हें सब से अधिक उचित यही है कि देह प्राण इन्द्रिय मन आदि आन्तरिक और भिन्न कलत्र क्षेत्र आदि बाहरी जड़ पदार्थों के प्रति सत्प्रज्ञा के द्वारा अनुराग दूर कर, उनसे होने वाले सारे फलों को, त्यागयोग्य देहपर्यन्त ही उपकारी मान कर, आत्मा के सम्बन्ध में दोषयुक्त तर्क प्रमाणमय चिन्तनों से होने वाले रागद्वेषों को दूर करके, शास्त्र प्रज्ञा से, विशुद्ध चित्त के द्वारा प्राणों को क्रम से वश में करते हुए, निरतिशय आनन्दमय आत्मस्वरूप का दर्शन करते हुए जीवनकाल में ही मोक्ष सुख प्राप्त करें।

विषयलोलुपतां सुविचारतः
प्रतिनियम्य जिताशानचारतः।
समयसिमितसद्वचबहारतः
स्वमनसश्चिति संयमने रतः।।११९।।

विषयों में दोषों का परिज्ञान रहते भी उनके प्रति मन का झुकाव बार-बार होता है क्योंकि मन को कोई ऐसा शुभ अवलम्ब नहीं मिलता कि उन्हें छोड़ कर उसी पर स्थिर हो जाये। वैराग्य जनक चिन्तन सही वही होता है जिससे चित्त को शब्दादि विषयों की अपेक्षा उत्तम अवलम्ब मिल जाये।

वह विषय अपना वह शुद्धरूप ही है जिससे भगवान् नाना सम्बन्धों से सदा जुड़े रहते हैं। उसे तत्परता से समझना ही सुविचार है। उस सुविचार के होने से विषयों की ओर मन का झुकाव दूर हो जाता है या परिस्थितियों के अनुसार कुछ सीमित विषयों से वह बाहर नहीं जाता। चित्त को शुभ आश्रय पकड़ाने के लिए आहार-बिहार और व्यवहारों पर नियन्त्रण भी करना चाहिए। इसके अनन्तर चित्त को ज्ञान स्वरूप अपने आत्मा में धारणा ध्यान समाधिरूप संयम से स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने वाला अधिकारी-

कतिपयैर्दिवसैरथ पक्षकै-
रघुभवन् मनसोऽथ धियो बलम्।
तनुलधुत्वमुखम् प्रथमम् फलम्
प्रयतते विशदप्रतिपत्तये।।१२०।।

कुछ ही दिनों या पक्षों में योगारम्भ का फल शरीर का हल्कापन, मानसिक नयी क्षमता और बुद्धि की विशदता पा जाता है तब वह उत्साहित होकर स्वयं ही आत्मा के विशद् बोध के लिए योगाभ्यास में लग जाता है।

जगति किन्तु सुखम्भविनामातं
विषयसंगभवन्तु जुगुप्सितम्।
अन्नपानमुखान्यसुखानि बै
प्रयततामत एव निजाप्तये।।१२१।।

संसारियों को कौन सा सुख मिलता है। विषय सुख की तो बहुत निन्दा है। भोजन पान से दुःख दबते हैं, उनको गणना दुःख के दर्जों में होती है। दुःखों से छूटने का उपाय किया जाये, न कि दुःख और औषधि पाने का। इससे स्वरूप लाभ का प्रयत्न ही करना चाहिए।

विशेष-इतिहास पुराणों में वर्णित देव असुर मनुष्यों के पराभवों की सारी कथायें विषयदोषों का ही वर्णन है। विषयों में वास्तव कोई दोष नहीं होता। उनके प्रति चेतन का भ्रान्तिपूर्ण संकल्प ही दोष होता है। स्त्री अन्न पान आदि शरीर रक्षा के उपकरण हो सकते हैं। उनसे थोड़ा सा जो सुख होता है वह केवल सेवन की प्रवृत्ति में माध्यम के रूप में प्रकृति ने बनाया है। उस अल्प सुख को बढ़ाने की इच्छा से अपने प्रति अपराध शुरु होता है जो कई स्तरों तक बढ़ कर चेतन को घोर अपराधों और नारकीय जीवन को ढकेल देता है। प्रत्येक प्राणी का आहार-विहार विचार दूसरों से भिन्न

होता है। सजातीयों एवं समानवंश्यों में भी भिन्नता होती है। भिन्नता किसी अज्ञात उपाधि पर निर्भर होती है। उसे ही हम प्रारब्ध कर्म कहते हैं जो चेतन को अपने फल से जोड़ने के लिए उसका एक स्वभाव बनाये रखता है। इस तथ्य पर ध्यान देने से मानव को अपनी प्रकृति पर स्वयं अनास्था होती है और वैराग्य भी हो जाता है। वैराग्य को स्थायी बनाने में तत्त्वदर्शन सहायक होता है। जो लोग आपराधिक भूमिका में नहीं होते वे ही तत्त्वदर्शन अपनाते हैं।

विहगकीटमृगादिषु जन्मिना-
मसुखमेव पराभवधीक्षयैः।
नृपशवोऽपि तथैव विचार्यताम्
अत उदारमतिः प्रतिपद्यताम्।।१२२।।

पक्षी कीट मृग आदि योनियों में जन्म लेने वालों को सदा पराभव ही मिलता है। उनकी बुद्धि भी बहुत कम होती है, यह हम देखते हैं। मानव भी अल्पबुद्धि से पशुओं की श्रेणी में माने जाते हैं। इससे हर एक मानव को स्वरूपज्ञान के उपयुक्त विशद बुद्धि पाने का प्रयास करना चाहिए।

सकलजीवनिकायनियामकं
स्वमवगत्य समम्प्रशमोन्मुखः।
विषमताप्रियताऽप्रियतादिभिः
प्रकृतिजैर्निजकर्मफलैः पुमान्।।१२३।।

प्रस्तुत दो श्लोकों का एक वाक्य है। विषय संसर्ग जनित अशान्ति से बचने के लिए स्थायी शान्ति प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील साधक को चाहिए कि वह अपने को केवल मनुष्य न मान कर क्रम से देव मनुष्य तिर्यग् योनियों में विचरण करता हुआ समझे। अपनी अतीत अनागत योनियों का स्पष्ट ज्ञान न होने पर भी विविध तर्क प्रमाणों से समझ कर उधर ध्यान रखा करे। अपने में अतीत अनागत मनुष्येतरप्राणि भावना लाने से मनुष्यभाव दुर्बल होता है, इससे सुख-दुःखों का प्रभाव कम हो जाता है। तब योगसाधना की प्रवृत्ति दृढ़ होती है। तब किसी प्रकार की कष्टप्रद विषमता प्रियता या अप्रियता आदि की स्थिति में भी वह समभाव ही रखता है। वह जानता है कि सारी विषम अवस्थायें प्राचीन कर्मों के फलस्वरूप आती जाती रहती है, ये टिकने वाली नहीं होती। इससे आत्मा से इनका सम्बन्ध भी नहीं होता। इनका प्रभाव चित्त तक ही होता है। ऐसा सोच होने से वह किसी भी

शुभाशुभ प्रियाप्रिय संयोग-वियोग से विचलित नहीं होता।

अविचलोऽविकलः स्वसुखोदधे-
स्तटगफेनमिबाऽऽकलयन् सदा।
त्रिभुवने सकलेऽपि सुखासुखे
सहजशान्तसुखं स्वमवेक्षताम्।।१२४।।

उसे कोई दुःख भी नहीं होता। वह तो त्रिलोक में होने वाले सभी सुख-दुःखों को अपने सहज सुखसमुद्र के तट पर जमने वाले फेन की भाँति उभयात्मक मानता है। फेन को गीला और सुखा भी माना जाता है। ऐसे ही लौकिक दुःखों को विवेक से सुख और सुखों को दुःख भी माना जा सकता है। इससे योगी सदा ही केवल सुखात्मक अपने स्वरूप के मानस साक्षात्कार के प्रयत्न में रहता है।

जगति यद्बहिरीक्षणकल्पना-
विषयवस्तु तदात्मसुखाम्बुधेः।
किमपि नोपकरोति करोत्यलं
सुपिहितम्प्रतिबोधसुखामृतम्।।१२५।।

संसार में बाह्यदृष्टिगोचर या कल्पना गोचर जो भी पदार्थ हैं उनमें कोई भी ऐसा नहीं होता जो आत्मा रूपी सुखसमुद्र का कुछ भी उपकार कर सके। अवश्य ही वह उक्त स्वरूपसुखरूपी अमृतसमुद्र को सदा ढकता रहता है।

मनसि शास्त्रधृतात्मनि सन्धृते
विषयरागबले सुधिया जिते।
स्फुरति यत्सुखमात्मभवं सता-
मसुलभं विषयेष्वसतां सताम्।।१२६।।

मुमुक्षु पहले शास्त्रों के द्वारा आत्मा को (अपने को) ठीक से समझता है। बाद में उसमें धारणाध्यानसमाधि क्रमों से चित्त को दृढ़ता से जोड़ता है। हृदय में हित तत्त्व बोध के स्थिर होने से विषयों के प्रति राग जग नहीं पाता, तब आत्मा का जो सुख उस सत्पुरुष को मिलता है वह विषयों में निष्ठा रखने वाले असत् पुरुषों को नित्य दुर्लभ होता है।

स्वसुखराशिमये तुहिनाचले
विकटदुःखचयोऽपि सुखायते।
तदुदधिं विनिविश्य मनःकरी
विषयघर्मवनं न पुनर्व्रजेत्।।१२७।।

उस आत्मसुख की राशिरूपी हिमगिरि में विकट दुःखों का समूह भी सुखतुल्य सेव्य हो जाता है। उस आनन्द समुद्र में घुसने के बाद मनरूपी महागज विषयसंसर्गजनित विविध सन्ताप मय संसार कानन को दुबारा वापस नहीं लौटता।

विषयरागबलेन यतो यत-
श्चलति लक्ष्यमुपेक्ष्य विदो मनः।
तत उदाहृतदोषकथाबलो
विमल आत्मनि केवल आनयेत्।।१२८।।

अनादिकाल से सेवित होने से विषयों के प्रति झुकाव प्रबल होता है। कुछ दिनों के शास्त्र श्रवण से होने वाली आत्मनिष्ठा हल्की होती है, इससे शास्त्रज्ञ का भी चित्त ध्यान काल में भी विषयों की ओर चला जाता है। साधक को चाहिए कि वह संस्कारवश चाहे जिधर को जाये उधर से उसे लौटा कर निर्मल आत्मा में ही लगने के लिए वश में करे। वश में करने का बल उसका वही होगा जो इतिहास पुराणों में विषयाधीनमहान् लोगों के बड़े-बड़े पराभवों की कथा सुन रखी होगी।

भवतु मोक्षसुखम् परमे पदे
द्रुहिणमुख्यधियामपदे सताम्।
यदिह योगिजनैरनुभूयते
तदपि कने बुधैरुपमीयते।।१२९।।

ब्रह्मा आदि जिसे सोच भी नहीं पाते उस परम पद वैकुण्ठ में सन्तों को मोक्षसुख मिलता होगा किन्तु इसी जगत् में योगी लोग आत्मसाक्षात्कार का जो सुख पाते हैं उसकी उपमा विद्वान् लोग भी कौन से सुख से कर सकते हैं।

घटपटादि तृणादि गवादि वा
प्रथमदर्शनतस्तु गुणादिभिः।
सकलमेव परम्परयेक्षते
चिति ततस्तु धियं तनुते सुधीः।।१३०।।

हमारी बुद्धि घट पर आदि जड़ वस्तुओं या तृण आदि जंगम प्राणियों को या वस्तुमात्र को गुण कर्म जाति स्वभाव आदि क्रम से ही पकड़ती है। वस्तु के मुख्य विशेष्य अंश तक कभी तो देर से पहुँच जाती है पर ज्यादातर गुण आदि उपाधियों में ही रह जाती है। आत्मविद्या में निष्णात व्यक्ति ही

तत्त्वों को चेतनअंश तक पकड़ पाता है। योगसाधक मुमुक्षु विशेषणांशों की उपेक्षा करता हुआ शुद्ध चेतन अंश पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। सभी शरीरों में वह नित्य एकाकार चेतन अंश का ही दर्शन करता है। एवं घटपटादि जड़ तत्त्वों में उनके साथ रहने वाले स्वत्व नियाम्यत्व भोग्यत्व आश्रयत्व आदि सम्बन्धों के द्वारा किसी न किसी चेतनतत्त्व या ईश्वर का एवं परमसाम्य होने से केवल आत्मतत्त्व का दर्शन करता है।

अभिदयाऽऽत्मगताऽखिलवर्तित-
म्परमुदाह पृथातनयं हरिः।
सकलभूतगतंस्वमथात्मगं
सकलभूतचयं यतिरीक्षते।।१३१।।

भगवान् ने अर्जुन को समझाया है कि योगी अपने आपको प्राणिमात्र में और प्राणिमात्र को अपने में देखता है। जीवचेतन वालाग्रशतभाग की तरह अति सूक्ष्म है। वह तो अपने शरीर के भी सर्वांश में रह नहीं सकता। ज्ञान के द्वारा ही उसकी अपने पूरे शरीर में व्याप्ति मानी जाती है। ऐसी स्थिति में योगी जो अनन्त शरीरों में अपना अस्तित्व मानता है वह जीवों की शास्त्रगम्य अत्यन्त समानता के आधार पर ही सम्भव है। भगवान् के उपदेश का आाधार भी वही है। समस्त हेतुक उक्त दृष्टि से राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं जिससे आगे चलकर परमात्मा से भी समभाव का ध्यान सिद्ध हो जाता है।

इयमभेदमतिः कृपया हरेः
सुतपसा समये प्रणिधानतः।
उपचयम्ब्रजतीह ततः स्वकं
हरिगतं हरिमात्मनि वीक्षते।।१३२।।

जीवों की परस्पर समता, जो शास्त्रों से जानी जाती है उसका नित्य अविस्मरण कई जन्मों की तपस्या से होने वाले धारणाध्यानसमाधिरूप नियमित उपाय से और भगवान् की कृपा से होता है। उक्त प्रकार का समभाव ध्यान सिद्ध होने के बाद योगसिद्धि की वह अवस्था आती है जब साधक नानाभेदाधीन जीवन काल में ही अपने को परमात्मा में परमात्मा को अपने में आकारत्रय (शेषत्व, भोग्यत्व, नियम्यत्व) सम्बन्ध से एवं सादृश्यातिशयरूप तादात्म्य से देखा करता है।

यदि तु नश्यति कर्म निबन्धनम्
मतिरतः सुतरांच विमुच्यते।
भगवता समताम्प्रतिपद्यते
यतिरसौ हरिमेव सदेक्षते।।१३३।।

उक्त अवस्था के बाद मायाबन्धन का कारण प्रारब्ध बहुत अंशों में नष्ट हो जाता है तब योगी को ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होती है और वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है। उसमें सत्य संकल्पत्वादि ईश्वरीय गुण आते हैं तब वह केवल परमात्मनिष्ठ हो जाता है। इस अवस्था को अद्वैतावस्था या अद्वैतदृष्टि कहा जा सकता है।

प्रकृतियोगभवे तु सुखासुखे
परगते भवतो न यथा नृणाम्।
सहजनिर्मलधीललितात्मनां
निजगतेऽप्यगते इव ते मते।।१३४।।

सबको सारे सुखदुःख प्रकृति के संसर्ग से ही होतें हैं। आत्मा अपने स्वरूप से स्वयं प्रकृति से नहीं जुट सकता किन्तु कर्मजनित अज्ञान से वह जुड़ा सा लगता है। अज्ञान से ही सुखदुःखों का अनुभव होता है। योगसाधना से अज्ञान घटने पर योगी को अपने सुखदुःखों का अनुभव वैसे ही नहीं हो पाता जैसे दूसरों के सुखदुःखों का अनुभव सामान्य लोगों को नहीं होता।

यदपि चंचलमेव मनो नृणां
विविधकर्मफलाय विधिर्व्यधात्।
मतिविरक्तिविवर्धितसंयमे-
स्तदपि शान्तमकर्ममयम् भवेत्।।१३५।।

विधाता ने मनको स्वभाव से ही चंचल बनाया है। इसकी चंचलता से ही नाना प्रकार के सुख-दुःखों के अनुभव और कर्म सहजभाव से होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मन को एकाग्र करके योगाभ्यास कैसे किया जा सकता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि चलती गाड़ी में ब्रेक लगाने से ही वह रुकती है, तभी इंजन ठंडा होता है और यात्रा भी पूरी होती है। अनादि संसार यात्रा की गाड़ी मन ही है। इस पर सुने समझे शास्त्रज्ञान को दुहराते रहने और विषयराग को उपायों से घटाते रहने के दो ब्रेक लगाने से यह धीमा होकर लक्ष्य पर स्थिर हो जाता है, तब काम्यकर्मों की प्रवृत्तियाँ रुकती हैं और क्रम से संसार यात्रा का अन्त हो जाता है।

अविरतामति कर्मरतात्मना–
मकुशले पथि संचरतां नृणाम्।
न सुखमत्र परत्र कथैव का
इति विदन् यतते लभते सुखम्।।१३६।।

जीव संसार में अनादि काल से अज्ञान की धारा में बहता हुआ अशुभ मार्ग पर ही चलता रहता है। इसे जीवन में वास्तव कोई सुख नहीं मिलता। परलोक में सुख की कल्पना भी क्या होगी। यह तथ्य ध्यान में रख कर मुमुक्षु साधक तत्त्वज्ञान निष्ठा के लिए चित्त को वश में करने का उपाय योगमार्ग अपना कर आत्यन्तिक कल्याण प्राप्त करता है।

यदिह जन्मनि चित्तगतम् भवेत्
तदपरत्र नयेदिति दृश्यते।
अत उदात्तमना भगवत्पथे
चलति चेत्फलमन्तिममश्नुते।।१३७।।

इस जन्म में चित्त में चेतन का जो भाव प्रबल होता है उसे वह अगले जन्म में भी लिए जाता है, ऐसा बहुत देखा जाता है। इससे जो व्यक्ति ऊँचे विचार रखता हुआ भगवान् को पाने के मार्ग पर चलता है वह अगले जन्मों में अपने संस्कारों से क्रम से अन्तिम फल भगवत्प्राप्ति कर लेता है।

तपसि शास्त्ररहस्यतलेऽपि वा
यदि च कर्मणि शर्मणि यत्नवान्।
विषयरागबशो भगवत्पथे
न खलु संयमिनां समतामियात्।।१३८।।

कोई तपस्या करता हो या अध्यात्मशास्त्र के रहस्यों को समझता हो या कोई कल्याण के लिए निष्काम कर्मयोग कर रहा हो किन्तु यदि उसके चित्त में विषयों के प्रति राग हो और वह उस राग के वश में रहता हो तो, भगवत्प्राप्ति के मार्ग में वह धारणा ध्यान समाधि रूप संयम के अभ्यासियों की समता कभी नहीं पा सकता। अध्यात्ममार्ग में चित्त से विषयराग समाप्त या शिथिल करना पहली शर्त होती है। उस दिशा में शास्त्रज्ञ योगी आगे होता है।

काम पर अंकुश लगाने की बात गीता शास्त्र में आरम्भ से ही कही गयी है। अन्त में सर्वधर्मत्यागपूर्वक शरणागति का सुझाव, सम्भवतः उन धर्मों में नाना परिग्रह से काम का कोई मार्ग बनता होगा इससे भी दिया गया

होगा। शरणागति की पूर्ति सर्वसमर्पण से ही होती है। सर्व में सारे काम्यअर्थ आते हैं। उनमें मोक्षोपाय प्रमुख होते हैं।

जितमना जितधीर्विजितासनः
स्वमवधार्य चिराय हृदन्तरे।
कमलवह्निरवीन्दुमयासने
कमलया दयया हरिमीक्षताम्।।१३९।।

आसन जप से शरीर को, प्राणायाम से मन को एवं शास्त्राभ्यास से बुद्धि को वश में करके आत्मस्वरूप का ध्यान चिरकाल करके अभ्यास दृढ़ होने पर मुमुक्षु अपने हृदय कमल में अग्निमण्डल पर सूर्यमण्डल और उस पर चन्द्रमण्डल की कल्पना करके उसके बीच कमल आसन में दया की मूर्ति लक्ष्मी जी के साथ विश्व का चित्त हरण करने वाले अभिराममूर्ति हरि श्रीमन्नारायण का ध्यान किया करे। यह योगी पूर्वोक्त चतुर्विध सिद्धि वाले योगियों से भी मोक्षमार्ग में आगे होता है। यह तो उपायभूत अपरा विद्या से ऊपर उठ कर फलपर्यायभूत परा विद्या के अभ्यास में लगा होता है।

हृदि गतो भगवान् स्वपथाश्रितं
सकलपापमयास्य निजाप्तये।
प्रयतमानमुदारकरैररं
गजमिवोद्धरते विषमग्रहात्।।१४०।।

हृदय में स्थित ध्यानमूर्ति भगवान् अपनी प्राप्ति के मार्ग पर अचल, एवं अपने को पाने के लिए प्रयत्नशील मुमुक्षु के हृदय में संचित संसारवासनारूप सारे पापों को दूर करके, अपने विशाल बाहुओं से विषमदृष्टिरूपी मगर से गजरूपी उक्त यति का उद्धार कर देते हैं।

दृढबद्धन्तनूभावाद् द्रवच्चेतो विमुच्यते।
हरिरित्याह तत्पद्यैरिह तत्त्व (२५) मितैर्धृतम्।।१४१।।

हमारा चित्त अनादि संसार बन्धन से बँधा है। वह यम नियम से कुछ पतला और भक्ति से द्रवरूप होने से अन्य द्रव्यों की भाँति आसानी से जटिल बन्धनों से छूट जाता है। यही तथ्य भगवान् ने छठे अध्याय में विस्तार से कहा है वह यहाँ २५ पच्चीस श्लोकों से समझा गया है।

छठा अध्याय समाप्त

अथ सप्तमोऽध्यायः

भजति यो भगवन्तमुदारधीः
प्रथितयोगपथैरनुरागतः।
त्रिजगदेतदशेषमवाप्य
तत्परमपीशममुं स्थितभीक्षते।।१४२।।

जिस मुमुक्षु का चित्र क्षुद्र विषयों से ऊपर उठ जाता है उसे भगवान् के प्रति अनुराग होता है। वह योगविद्या के प्रसिद्ध विविध मार्गों से क्रम से भगवान् को पाने के प्रयत्न करता है। वही परमात्मा को पुरुषसूक्तादि में पठित उनकी समग्र विश्व में व्याप्ति और उससे ऊपर भी अवस्थान का सतत मानस दर्शन कर पाता है।

सजडचेतनजन्यमिदं जग-
च्छ्रुतचतुर्दशलोकमयम्बृहत्।
प्रकृतिरस्य महीप्रमुखाष्टधा
विविधकर्ममया अपि चेतनाः।।१४३।।

नित्य बनता बिगड़ता यह संसार जड़ और चेतन के योग से बना है। सुना जाता है कि चौदह लोक कहलाने वाले इसके चौदह विभाग हैं। यह इतना विशाल है कि इसकी सीमा का निर्धारण संसारियों के लिए असम्भव है। इसके जड़ कारणों में पंचभूत मनबुद्धि और अहंकार ये आठ तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त एक चेतन तत्त्व इसका प्रमुख कारण है जो अपने अनादि अनन्त कर्मों से जुड़ा होने से इसमें चमत्कारी परिवर्तन लाता रहता है।

परिणमत्प्रकृतिद्वितयं हरेः
सुखकरं वपुरस्य वशे स्थितम्।
इदमवेत्य रहस्यमुदारधीः
स्वगतये हरिमेव समाश्रयेत्।।१४४।।

उक्त दोनों प्रकार के करणों को प्रकृति अर्थात् जगत् का उपादान कहा गया है जो सदा उनके सर्वथा अधीर और आनन्द में बृद्धि करने वाले हैं। हम विश्व में जो भी कुछ चाहते हैं वह सब परमात्मा के शारीर से और उनका शरीर ही चाहते हें। शरीरी परमात्मा की इच्छा होने पर ही हमारी इच्छायें पूरी होती हैं। इससे विवेकी लोग जीवन में जो भी कुछ छोटा या बड़ा

पुरुषार्थ चाहते हैं उसके लिए परमात्मा का ही भरोसा रखते हुए उन से ही प्रार्थना करते हैं।

यदि तृणं यदि वा द्रसनाशनं
यदि सुवर्णमपीच्छति मोहतः।
प्रयतते लभते च हरीहिता-
न्नतु हरिम्मनुते फलबद्धधीः।।१४५।।

कोई व्यक्ति जब भी तिनके के तुल्य कोई सुलभ वस्तु चाहता है या भोजन वस्त्र जैसी अपेक्षित वस्तु चाहता है या मोहवश सोना जैसी स्थिर मूल्य की वस्तु चाहता है और लाभ के लिए कोई यत्न करता है तो उसकी प्राप्ति ईश्वरीय संकल्प से ही होती है। इस तथ्य का ध्यान रहने से प्रत्येक लाभालाभ में ईश्वरीय सन्निधान का अनुभव हो सकता है किन्तु संसारी जीव का चित्त केवल फल से बँधा होता है इससे फलदाता ईश्वर को वह समझ नहीं पाता।

विधिशिवप्रमुखैरूपपादितम्
फलमुपैति चिराय सुसेवितैः।
तदपि सर्वनियन्तुरधीश्वरा-
न्न हि पयोऽस्ति पयोधरतो बहिः।।१४६।।

कुछ लोग फललाभ के लिए ब्रह्मा शिव आदि अन्य देवताओं की उपासना चिरकाल करते हैं। प्रसन्न होकर वे देवता वर देते हैं। वह भी उपासक को अन्तर्यामी परमात्मा की प्रेरणा से ही मिलती है। दूध जहाँ से भी मिलेगा वह स्तन का होगा। जल जहाँ भी मिलेगा वह मेघ का होगा।

इति समस्तसमीहितसाधकं
न खलु दभ्रधियो दधते जनाः।
हृदि वहन्ति तु कर्कशकामिनी-
सुतसुहृत्प्रमुखानसुखानलम्।।१४७।।

इस प्रकार विश्व के सारे प्राणियों की अपेक्षा पूरी करने वाले प्रभु को क्षुद्र बुद्धि लोग अपने हृदय में धारण नहीं करते। वे तो बार-बार पीड़ा पहुँचाने वाली कामिनी एवं पुत्र मित्र आदि को धारण करते हैं जो वास्तव में सुख के विरोधी ही होते हैं।

चिरसुसंगसमाहितचेतसो
विषयसंगभवः स्रबते रसः।

स रस आश्रयते हृदयं तदा
गतघने गगने रविरीक्ष्यते।।१४८।।

चिरकाल तक सत्संग के सेवन से जो चित्त, वस्तु-तत्त्व में स्थित हो जाता है, उसमें रहने वाला विषयासक्ति का राग धीरे-धीरे निकल जाता है और उसमें ''रसो वै सः'' इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध आनन्दस्वरूप तत्त्व परमात्मा का अनुभव होने लगता है। मेघ के हटने पर आकाश में सूर्यमण्डल देखा जाता है।

भगवदाश्रयिणोऽपि चतुर्विधाः
सुखधनात्मतदेकपरायणाः।
सुकृतशुद्धिचतुष्क्रमतावशाद्
विविधलक्ष्यधियो भगवत्प्रियाः।।१४९।।

सत्संग से पापों की कमी होने से ईश्वर पर भरोसा होने लगता है। तब भी संस्कारवश कुछ लोग अपना उजड़ा बसाना चाहते हैं, कुछ तो अतिरिक्त वैभव चाहते हैं, कुछ लोग तत्त्वज्ञान चाहते हैं और उत्तम कुछ लोग परम तत्त्व परमात्मा को ही चाहते हैं। पूर्वपुण्य के उदय से ही परमात्मा पर भरोसा होता है इससे भगवान् उक्त चारों को उदार (ऊँची धारणा वाले) कहते हैं फिर भी सुकृति के साथ दुष्कृति का भी कुछ अंश रहता है। वही परम लक्ष्य तक बढ़ने में बाधक होता है। दुष्कृत के घनत्व के अनुपात से परमात्मा से चित्त की दूरी रहती है।

भगवता भगवद्गतमानसो
भगवते भगवन्ततमपेक्षते।
सुकृतिनां स कृती समुदीक्षते
स्वमपि यो भगवन्तमुदारधीः।।१५०।।

भगवान् के सत्यसंकल्प से कोई अधिकारी भगवान् को ही सभी कारणों के रूप में मानता है, इससे भगवान् की प्राप्ति के लिए वह भगवान् से ही अपेक्षा रखता है। पूर्व सुकृतों के फलस्वरूप बढ़े हुए सत्त्वगुण से वह समस्त तत्त्वों में परमात्मा की अन्तर्यामी शरीरी भोक्ता रूप से व्याक्ति का अनुभव करता हुआ अपने में भी उन्हें देखता हुआ अपने को भी अन्य तत्त्वों के समान परमात्मा ही मानता है। उसकी बुद्धि पूर्ण विकसित होती है। वही मोक्षमार्ग में पूर्ण सफल होता है।

भगवते यतताम्बहुजन्मना-
मयगमेऽभ्युदिते सुकृतोत्तमे।
हरिरिदं सकलं न ततः परं
किमपि सोऽहमपीति मतिर्भवेत्।।१५१।।

भगवत्प्राप्ति के लिए उपाय करते बहुत जन्म बीत चुकने पर जब उत्कृष्ट पुण्य का उदय होता है तब परमात्मा का विश्व के साथ उक्त त्रिविध सम्बन्ध न भूलने से मुमुक्षु स्पष्ट समझने लगता है कि यह सारा विश्व परमात्मा ही है, उनसे अतिरिक्त कुछ नहीं है। फलतः मैं भी वह परमात्मा ही हूँ ऐसी तात्त्विक बुद्धि हो जाती है।

सुबहुदूरगतागतकालयो-
र्भगवता सुविदाऽपि न लक्ष्यते।
भगवदेकपरोऽपरनिःस्पृह-
स्तमुपसृत्य तदर्चनतत्परः।।१५२।।

काल का कोई आदि अन्त नहीं है। परमात्मा वह परम चेतन तत्त्व है जिसकी दृष्टि में कोई भूत या भविष्यत् नहीं होता, केवल वर्तमान होता है। इससे परमात्मा के लिए वह काल जो हमारी दृष्टि में अतीत या अनागत है, प्रत्यक्ष एवं वर्तमान ही है, उसे वह स्पष्ट देख रहे हैं। वे भी महान् काल में संसार में ऐसा अधिकारी नहीं पा रहे जो तत्त्वनिष्ठ होकर भगवान् से अन्य अर्थ के प्रति निःस्पृह होकर केवल उनको ही उपाय उपेय मानता हुआ उनकी ही सेवा पूजा में पूर्ण समर्पित रहे। अनन्य निष्ठावान् अधिकारी विश्व में सदा दुर्लभ होता है। क्षीण होता हुआ भी प्रारब्ध अपने फल देने के लिए चित्त को विषयों की ओर कुछ न कुछ खींचता ही है।

नियतचित्तवतो भजतश्चिरं
दुरितदोषशमे भगवत्पदे।
रतिरगण्यजनुःष्वथ वासना-
लयबतो मतिरात्मनि लीयते।।१५३।।

जिसने यमनियम साधनों से चित्त को वश में करके चिरकाल तक भगवान् का भजन किया है उसके पूर्वपापों से हुए चित्तदोष समाप्त हो जाते हैं, तब भगवान् के चरणों में अनुराग होता है। वह अनुराग जब असंख्य जन्मों तक रहता है तब बुद्धि आत्मनिष्ठ होती है, तब अनात्मचिन्तन रुकता है। उससे पहले अनात्मतत्त्वों के प्रति लालसा बनी ही रहती है।

यदि ततोऽपि परम्परिशुद्धिमान्
भवति भागवतो दयया हरेः।
स्वमपि तन्मयमेव सदेक्षते
तदतिरिक्तमतिर्न स लक्ष्यते।।१५४।।

आत्मनिष्ठा के समय भी चित्तशुद्धि का क्रम जारी रहता है। भगवान् की कृपा से ही चित्त की पूरी शुद्धि होती है। तब उसकी आत्मनिष्ठा भगवन्निष्ठा तक पहुँचती है। तब वह अन्तर्यामी परमात्मा को ही मुख्य रूप से देखने लगता है। हमारा मन आत्मा के बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न इन गुणों का ग्रहण तो वैसे ही कर लेता है जैसे हमारी आँखें रूप का ग्रहण करती हैं किन्तु केवल आत्मतत्त्व का एवं अन्तर्यामी परमात्मा का ग्रहण वेदान्त श्रवणपूर्वक ध्यान की सहायता से चित्तशुद्धि होने पर होता है।

बहुजन्मानि निध्यायंस्तत्त्वेनाप्नोति मां सुधीः।
इत्याहेशस्तत्तु पद्यैरिहाग्नीन्दुमितै (१३) धृतम्।।१५५।।

सातवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि सत्कर्माधीन सत्त्वगुणोदय के फलस्वरूप ध्यान में प्रवृत्ति होती है। वह प्रवृत्ति बहुत जन्मों तक जारी रहने पर बुद्धि इतना शुद्ध हो जाती है कि जिससे यति मुझे तात्त्विक के रूप से समझ कर ध्यान से मुझ में ही लीन रहने लगता है। उक्त अर्थ ही यहाँ १३ श्लोकों से संगृहीत है।

सातवाँ अध्याय समाप्त

अथाष्टमोऽध्यायः

यदनुचिन्तयते प्रियमप्रियं
यदुपलब्ध्यपनीतिपरोऽनिशम्।
तदनुरूपमतिः समयेऽन्तिमे
तदनुरूपजनुर्लभते नरः।।१५६।।

कोई भी प्राणी अपने जीवन काल में जो भी कुछ प्रिय या अप्रिय अर्थ सोचता है एवं जो कुछ पाने और छोड़ने के प्रयत्न करता है, उस शरीर वाचिक मानस व्यापार के अनुरूप ही अन्तकाल में उसकी बुद्धि बनती है और अन्तिम बुद्धि के अनुरूप अगला जन्म मिलता है।

जननमाप्य दृढम्मतिमान् पुमान्
मरणमेव परिष्कुरुते यदा।
सकलधर्ममतान्तरदूरगः
सुचरितः सुखितः सुखयेज्जगत्।।१५७।।

शास्त्रज्ञ पुरुष अच्छा जन्म पाकर यदि केवल मरण का परिष्कार दृढ़ता से करने लगे तो जीवन की बहुत सी समसयायें स्वतः हल हो जायें, आग्रही स्वभाव न होने से वह संकीर्ण धर्मों और मतभेदों से स्वयं दूर रहे, उससे अच्छे ही कर्म बनने लगें, वह सदा स्वयं सुखी रहा करे और अपने सम्पर्क से दूसरों को भी सुखी रखे।

प्रकृतकर्मवशं जननं नृणा–
म्मरणमैहिककर्मकलापतः।
मरणमेव पुनर्जननावहं
सुमरणाय सुधीर्यतते ततः।।१५८।।

यह निर्विवाद है कि मनुष्यों का जन्म प्रारब्ध कर्मों के अधीन होता है, जन्म के साथ आयु और भोग भी बन्धे होते हैं, इससे सामान्यतया यह मानना पड़ता है कि मृत्यु के समय और कारणों को बदला नहीं जा सकता फिर भी संगति और आयु आरोग्य वृद्धि के उपाय शास्त्रों में मिलते हैं, उनके पालन से शुभ फल भी मिलने के अनुभव होते हैं, इससे यह मानना चाहिए कि ऐहिक सत्कर्मों द्वारा सत्फललाभ भी प्रारब्ध भोग के साथ जुड़ा होता है। यदि हमने अपने यत्नों से अपना मरण सुधार लिया तो अगला जन्म भी हमारा सुधरा ही होगा। ऐसा जानकर विवेकी जन सुधार के प्रयत्न में दृढ़ता से जुटते हैं।

चरति रोमशकीटबरश्चिरं
तत उपर्यचलः क्व च वर्तते।
श्वसिति नैव चिराय तदुअद्रुताः
पदमनन्तमयन्ति सुपक्षिणः।।१५९।।

इस प्रसंग में काले भुवा पिल्लू का जीवन ध्यान देने योग्य है। गाँवों में खपरैल मकानों में वर्षा के समय काले रोयेंदार हल्की लालधारी वाला एक कीड़ा बहुतायत से हो जाता है। विस्तर वस्त्र भोजन आदि में जाता रहता है। उसके छू जाने से मनुष्य को देर तक खुजली से परेशानी होती है। दस दिन की आयु वाला यह जन्तु चार महीने अपनी वंशवृद्धि करता हुआ मानव

को बहुत त्रास देता है। इसमें कुछ कीड़े ध्यान योग संन्यास और सद्गति का अच्छा आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वृद्धावस्था में अन्तःप्रेरणा से ये दीवार के किसी ऊँचे, कम हवादार स्थान पर जाकर टिक जाते हैं। धीरे-धीरे इनके चारों ओर एक जाल बन जाता है। उस जाल के अन्दर ही उनके सारे रोयें विखर जाते हैं और वह शरीर अपनी लम्बाई वाला एक अण्डा बन जाता है। उस अण्डे के अन्दर से उसके उसी लाल रंग की तितलियाँ बारी-बारी से पाँच या सात की संख्या में निकलती हुई हजारों की तादाद में आकाश की शोभा बढ़ा कर कहीं दूर जाकर पक्षियों का आहार बन जाती हैं। शरद् ऋतु की शोभा बढ़ाने वाली जितने प्रकार की तितलियाँ हम पाते हैं वह सब खुजली देने वाले किसी न किसी जाति के भुवा पिल्लू की दूसरी पीढ़ी है।

इति निदर्शनमस्ति दृशोः पदम्
भवतु कोऽपि सतामसुखास्पदम्।
परमसावपि निश्चलचेतसा
स्मरति चेत्परमं स विवर्तते।।१६०।।

यह दृष्टान्त हमारी आँखों के सामने है, इससे हम समझें कि कोई चाहे जितना भी बुरा हो, समाज में घूमता हुआ पुरुषों को चाहे जितना भी सताया हो किन्तु यदि वह सब भूल कर परमात्मा के ध्यान में लग जाये तो उसके सारे पाप छूट जाते हैं। आगे वह बिलकुल बदल कर स्पृहणीय और कृतार्थ अनेक सन्ताप बढ़ा लेता है।

भवति धीरपि कर्म च निर्मल-
न्तदुभयेन पदम्परम चर्यन्।
सह सुहृज्जनबन्धुसुतादिभि-
स्तदुपगच्छति यच्छ्रुतिभिर्धृतम्।।१६१।।

उसे कल्याणमयी बुद्धि मिलती है, उसके कर्म भी निर्दोष होने लगते हैं। नये उत्तम ज्ञानकर्मों से वह परतत्त्व की सेवा पूजा सहज भाव से करने लगता है, आगे व्यापक चित्त शुद्धि होने से वह सभी बन्धु कुटुम्बों के साथ उस परम स्थान को जाता है जिसे श्रुतियों ने विस्तार से बतलाया है।

मरणमन्तिममस्त्वथ वा न वा
जननमन्तिममेव विधीयताम्।
हरिचरित्रकथाश्रुतिचिन्तनैः।
सुखमयैर्हरिमन्मन इष्यताम्।।१६२।।

यदि हम अपने मरण को सुन्दर बनायें तो अगला जन्म सुन्दर होगा। मरण दूर है इससे उसके सुधारने का भरोसा कम होगा किन्तु वर्तमान जन्म तो हमें प्राप्त है, इससे इसे हम आज और अभी से सुन्दर बनाने का प्रयत्न कर सकते हैं जिससे संसार वासना समूल नष्ट हो जाये और अलग जन्म न हो सके तो यही जन्म हमारी अन्तिम हो जोगा और मरण भी अन्तिम होगा। इसके लिए भगवान् से अपने सारे सम्बन्ध, उनके शील और चरित्रों की तथा सुनते समझते और ध्यान करते हुए अपने मन को इन सुखमय उपायों से भगवान्मय बनाने की प्रबल इच्छा रख कर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

हरिमयम्मन आप्य सुधीर्जनु-
र्यत उपैति ततः करुणो हरिः।
जनन एव हितोऽस्य मनोगतिं
सुविनियम्य निजीकुरुते त्वरन्।।१६३।।

विवेकी पुरुष उक्त उपायों से जब भगवान् के संस्कारों से युक्त मन पा लेता है तब आगे जहाँ भी जन्म लेता है वहाँ दयामय भगवान् जन्म से ही उसके मन को नियन्त्रित यानी अपने विषय में ही सोचने वाला बना कर उसे अंगीकार कर लेते हैं। भगवान् प्राणिमात्र के सुहृद हैं, भक्तों के वे विशेष सुहृद हैं। इससे उन्हें भी भक्ति को अपनाने की त्वरा रहती है। अपनाने में विलम्ब होने से पुनः उसके संसार में लौटने के खतरे का एवं उसकी सुरक्षा का ध्यान भगवान् को रहता है।

भगवदाश्रयिणो विभवार्थिनो
यदि च केवल तैकफलार्थिनः।
यदि च तत्पदयुग्मगताशय-
स्तदनुशीलनतोऽश्नुवते फलम्।।१६४।।

लौकिक विभव की इच्छा से कैवल्य की इच्छा से या सायुज्य की इच्छा से भगवान् का सहारा लेने वाले भाग्यवान् साधक निरन्तर उनके स्मरण चिन्तन ध्यान से ही वांछित फल पाले हैं। उक्त कोई भी फल भगवान् से तभी मिलता है जब मन भगवन्मय हो जाता है

महदहम्प्रमुखैर्विकृतैः पुमान्
भजति जन्मजरामरणादिकम्।
पतति तत्र भृशं घनकर्दमे
नृपशुमुख्यतनुप्रभवो यतः।।१६५।।

भजन से विमुख संसारियों की सामान्य गति का वर्णन करते हैं। महतत्त्व और अहंकार तत्त्व के विकारों से इन्द्रियों और पंचभूतों की सृष्टि होती है। उनसे बने शरीर के सहारे अति निर्मल चेतन पुरुष सांसारिक जरामरणादि दुःख पाता रहता है और नया-नया शरीर पाने के लिए बार-बार उस गाढ़े निदित पंक में (पुरुषवीर्य में) गिरता है जिससे मनुष्य या पशु आदि शरीर मिलता रहता है। विवेकी जन उस घृणित दशा से अपने को बचाने का ध्यान रखते हैं।

सुगुरुशास्त्रवचोऽनुभवैर्यमैः
सनियमैरवगच्छति चेत्स्वकम्।
अथ च हेयजुगुप्सिततसंगतिं
त्यजति तत्स्वयमेव विमुच्यते।।१६६।।

जो मुमुक्षु सदाचार्यों के द्वारा प्राप्त शास्त्रवचनों एवं मनन तथा यमनियमों से अपने शुद्ध स्वरूप को समझ कर अनपेक्षित तथा निन्दित विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग कर देता है वह बिना ही किसी के सहारे मुक्त हो जाता है।

अथ विरिंचिपदादपि सम्प्रदं
समधिकं यदि वांछति काम्यधीः।
स्वमधिदैवतरूपमुदीक्षते
परिणतीः प्रकृतेश्च निरन्तरम्।।१६७।।

और यदि फलकामना का त्याग न हो पाने एवं महत्त्वाकांक्षा ऊँची होने के फलस्वरूप देवाधिदेव ब्रह्मा से भी अधिक सम्पत्ति पाने की इच्छा बनी रहे तो वह अधिकारी अपने अधिदैवत रूप अर्थात् ब्रह्मा से भी ऊपर की शक्ति का एवं प्रकृति के उस परिणामक्रम का जो अधिदैवतरूप तक बनता है, निरन्तर ध्यान करता रहता है जिससे उक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है।

सकलदैवतयज्ञहविर्मुखा-
खिलतनुर्भगवान् यजते स्वयम्।
दिशति दैवततः फलसम्पद-
स्तदितरत् किमपीह न कल्पते।।१६८।।

वास्तव में यज्ञ के सभी देवता, सारे यज्ञ और हवि आदि यज्ञ के सारे उपकरण एवं यजमान भी परमात्मा ही हैं। वे स्वयं यजमान के रूप में यज्ञ करते हुए देवता के रूप से स्वयं को फलप्रदान भी करते हैं। परमात्मा से

भिन्न कोई वस्तु सम्भव नहीं है।

इति धियं यदि धारयते महान्
सततमेव करोति च यत्स्वयम्।
फलतयाऽस्य हरिर्दिशति स्वकं
निखिलमेव जहाति न तं क्वचित्।।१६९।।

उपर्युक्त प्रकार की बुद्धि रखनेवाला महान् अधिकारी जो भी कुछ कर्म करता है उसके फलरूप में भगवान् अपने सर्वस्व के सहित उसके हो जाते हैं और उसे अपने से पृथक् कभी नहीं करते।

भगवतः स्मरणम्भगवत्क्रिया
भवति चेदनिशं विफलस्पृहम्।
कथमतीत्य वयो भगवत्पदा-
दपरमर्थमवाप्तुमलम्पुमान्।।१७०।।

जिस व्यक्ति के जीवन में भगवान् का स्मरण निरन्तर होता रहता है एवं फलों की इच्छा न रहते हुए भी केवल भगवान् की सन्तुष्टि के लिए कर्म होते रहते हैं, वह व्यक्ति आयु समाप्त होने पर भगवान् के चरणों के अतिरिक्त क्या कुछ पा सकता है।

क्व भगवान् क्व नितमतम्परमम्पदं
त्रिदशसद्म च कुत्र न विद्महे।
तनुलयेऽकुशलोनितराम्पुमान्
क्व नु गमिष्यति किन्तु भविष्यति।।१७१।।

भगवान् कहाँ हैं, उनका नित्यदर्शनस्थल परमपद कहाँ है, देवताओं का स्थान स्वर्ग कहाँ है, यह सब हम नहीं जानते। हम तो यह भी नहीं जानते कि मृत्यु कैसे होती है और उसके बाद कोई कहाँ जायेगा और क्या बन जायेगा।

यमगणा इव देवगणा मता
भगगवदीयगणा अपि सम्मताः।
समसुरासुरधीविषयातिगम्
प्रतिनयन्ति पदं क्रमशः समे।।१७२।।

उक्त प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि मर्त्यलोक में कभी-कभी यमदूतों के दर्शन या आभास हो जाता है, वैसे ही देवदूत भी स्वर्ग के अधिकाररियों

को मिलते हैं। इन दो प्रकार के दूतों या गणों के समान भगवान् के लोक को पहुँचाने वाले गण भी होते हैं जो अधिकारी को उस परम पद तक अपने-अपने अधिकार क्षेत्र पार करते हुए पहुँचा देते हैं जिसे कोई भी देवता या असुर अपनी बुद्धि से सोच भी नहीं सकता।

जिगमिषुर्मनसा भगवत्पदं
स्मरति नित्यममुष्य गणं शुभम्।
स्मृतिसममादृतदेवगणाः क्रमाद्
भगवदीयपदाय नयन्त्यरम्।।१७३।।

जो व्यक्ति अपने मन से भगवान् के नित्यलोक को जाने का संकल्प रखता है वह भगवान् के अति सात्त्विक गणों को बराबर याद रखा करता है। स्मरण से देवता अपना आदर समझते हैं और उपयुक्त समय पर भगवान् के लोक के लिए शीघ्रता से ले चलते हैं।

हुतवहोऽथ विभेशदिनेश्वरौ
सितदलेश उदक्पथपो रवेः।
निजनिजावधियारपथाय
तान् अतिवहन्ति हरिः स्मरतीह यान्।।१७४।।

अग्नि ज्योति दिन शुक्लपक्ष और उत्तरायण सूर्य के छः मास इन पाँचों के अलग-अलग अभिमानी देवता उस व्यक्ति को अपने-अपने अधिकार क्षेत्र पार करते हुए परमपद तक आगे बढ़ाते हैं जिसे भगवान् अपने पास याद करते हैं।

भगवतो दयया सह जायते
भगवदीयदयामनुवांछति।
भगवतो दयया तनुमुत्सृजन्
भगवदीयगणैरूपनीयते।।१७५।।

भगवान् के पास जाने वाला व्यक्ति भगवान् की दया के साथ जन्म लेता है, यानी उसके जन्म के समय भगवान् का उस पर विशेष कृपाकटाक्ष होता है। जन्म के बाद वह जन्मकालिक कृपासंस्कार के अनुसार सदा भगवान् की विशेष कृपा की ही अपेक्षा रखा करता है। उसका देहत्याग भगवान् की विशेष कृपा से सात्त्विक लोकों को जाने के उपयुक्त समय पर ही होता है जिससे भगवान् के गण शरीर छूटते ही उसे भगवान् के समीप पहुँचा देते हैं। अध्याय के अन्त में भगवत् पद की आवृत्ति मंगलार्थ हुई।

वेद्योपादेयतत्त्वोक्तिर्विविधानाम्महात्मनाम्।
अष्टमे खाक्षि (२०) पद्येषु लघु साधु मृदुदिता।।१७६।।

आठवें अध्याय में भगवान् ने सायुज्य या उससे कुछ नीचे के फलों के इच्छुक महापुरुषों के लिए जानने योग्य अर्थों का उपदेश किया है। वही यहाँ बीस (२०) पद्यों में संक्षिप्त सरल और सुबोध रूप से कहा गया है।

आठवाँ अध्याय समाप्त

अथ नवमोऽध्यायः

भुवि भवन्ति नराः पशु जीविताः:
परममीषु विचारपरा वराः।
स तु विचारपरेषु वरो मतो
भगवतोऽनुगतोऽनिशमेव यः।।१७७।।

पृथ्वी पर मानव प्रायः पशुतुल्य जीवन व्यतीत करते हैं। उनमें कुछ विचारशील भी होते हैं, वे अपने विचारों से अच्छे माने जाते हैं। उन अच्छों में वह दुर्लभ व्यक्ति विशेष अच्छा होता है जो भगवतत्त्व समझता है और अपनी समझ के अनुसार जो निरन्तर भगवान् का ही अनुगामी बना रहता है।

कथमिदं नरजन्म ममाभवत्
किमवगत्य किमेव विधीयताम्।
इति विचिन्त्य विधेयमधीयते
तदुपकारफलं सकलं जगत्।।१७८।।

विश्वसृष्टि का सबसे उत्तम उद्देश्य क्या है इस प्रश्न का समाधान करते हैं कि जो लोग यह सोचते हैं कि असंख्य प्राणियों में मैं मनुष्य कैसे हो गया, मनुष्य होकर मुझे क्या जानना चाहिए और जानकर क्या कर्तव्य करना चाहिए, एवं ऐसे चिन्तन के फलस्वरूप अपने कर्तव्य की ही उत्तरोत्तर समीक्षा करते हुए सर्वोत्तम कर्तव्य में लगने का प्रयास करते हैं उनके उपकार के लिए ही यह सारा जगत् बना है।

यह उदेति जगत् यदधिष्ठितम्
परिणमद् भजते बहुरूपताम्।

भवति भोगमयं क्रमशो लयम्
ब्रजति यत्र स किन्न विचिन्त्यताम्।।१७९।।

हम संसार में रहते हैं, जीते हैं और इसी से हानि लाभ उठाते-रहते हैं इससे इसका सही निरूपण तो कर ही लेना चाहिए। आधुनिक विज्ञान चेतन तत्त्व को जड़ का परिणाम मानकर चलना चाहता है किन्तु चल नहीं पाता और न्याय वैशेषिक दृष्टि से या वैदिक दृष्टि से इसे देखना भी नहीं चाहता। इससे इसे अधूरे चिन्तन से पुरुषार्थ निर्णय अभी असम्भव है। श्रुतियाँ मन वाणी की पहुँच से बहुत दूर किसी अचिन्त्य ज्ञानानन्दमय तत्त्व परमात्मा से विश्व की सृष्टि मानती है। श्रुतियों के अनुसार यह सारा विश्व उस तत्त्व पर ही आश्रित है। कुछ अचिन्त्य घटनाओं से मनीषियों को ऐसा आभास भी हुआ करता है। उनके अनुसार विश्व के सारे छोटे बड़े परिणाम उस परम तत्त्व के नित्य संकल्प से होते हैं, जीवों को भोग प्राप्त होते हैं और फिर यह विश्व पहले जैसा ही अचिन्त्यशून्य अवस्था में पहुँच जाता है। इस लम्बे परिणामक्रम का बोध मानवी प्रज्ञा अभी तक नहीं पा सकी है इससे श्रौत तत्त्वों को श्रुति से ही समझने की आवश्यकता है। श्रुतियाँ प्रमाणान्तरगम्य स्थूल जगत् की अपेक्षा जगत् के अचिन्त्य मूलतत्त्व को ठीक से समझने पर ज्यादा जोर देती हैं। वह मूल तत्त्व हमारे सारे पुरुषार्थों पर सदा सम्पूर्ण नियन्त्रण रखता है इससे पुरुषार्थलाभ की दृष्टि से भी उसे समझना आवश्यक है।

जगदिदं सृजतीश उदारधीः
क्व च मुमुक्षुजनोद्धृतिमुद्दिशन्।
करुणयैव विचारपरन्ततो
मृगयते विपिनेषु यथौषधम्।।१८०।।

विश्व के रचयिता परमात्मा अति उदार हैं। वे सोचते हैं कि सृष्टि के लम्बे अन्तराल में अधिक नहीं तो पाँच सात विवेकी मुमुक्षु मिलेंगे ही। उनका उद्धार हो जाने पर सृष्टि सफल हो जायेगी। इसी से वे जिज्ञासु और ज्ञानी महापुरुषों की तलाश करते रहते हैं जैसे कोई वैद्य जंगलों में संजीवनी बूटी की तलाश करता हो। भगवान् भी जिन्हें दुर्लभ मानते हों ऐसे ज्ञानी महापुरुषों के हित के लिए यह विशाल विश्वसृष्टि हुई है।

भगवदीयगुणान् स्वहितान् पुमान्
अनुभवेन्नियमेन यथा यथा।

तदनुवृत्तिपरो निरहंकृति-
र्व्रजति मोक्षपथे स तथा तथा।।१८१।।

भगवान् अपने जिन असाधारण गुणों से जीवों का कल्याण किया करते हैं उनका नियमपूर्वक चिन्तन और अनुभव कोई पुरुष जैसे करता जायेगा वैसे-वैसे उसका अहंकार क्षीण होगा भगवान् की सेवा में उसकी प्रवृत्ति बढ़ेगी और मोक्षमार्ग में वह आगे बढ़ेगा।

असुर बुद्धिगुणान् दुरहंकतान्
वितथचिन्तनकर्मपरान् निजान्।
कृतफलाय परम्मिलिलतांस्त्यजन्
हरिगुणस्मृतिभव्यजनान् श्रयेत्।।१८२।।

समाज में आसुरी प्रकृति के लोग ज्यादा होते हैं। उनकी बुद्धि और कार्यकौशल असुरों के समान विध्वंसात्मक होता है। वे सदा मिथ्या चिन्तन और अनिष्ट कर्मों में लगे होने से दुरहंकारी होते हैं। प्रारब्ध फल देने के लिए वे आत्मीय रूप में भी मिलते हैं। हृदय से उनका त्याग करते हुए ऐसे मंगलमय महापुरुषों का अवलम्ब लेना चाहिए जिनका स्वभाव भगवान् का नित्य स्मरण करते रहने का है।

तनुमनोऽसुधियां गतयोऽखिलाः
सकलजन्मभृताम्भगवत्कृताः।
इति मतिः सततं यदि वर्तते
क्व भवबन्धपदं क्व भवः सताम्।।१८३।।

जो सत्पुरुष सदा इस तथ्य का ध्यान रखते हैं कि सारे प्राणियों की शारीरिक मानसिक और बौद्धिक गतिविधियाँ एवं प्राण संचार भगवान् के संकल्पमय प्रयत्नों से होते हैं, इससे अपनी भी सारी गति विधियाँ भगवान् के द्वारा ही हैं, ठीक वैसे ही जैसे छोटे बच्चे को गोद में लेकर घूमता हुआ व्यक्ति उसे विभिन्न वस्तुओं से मिलाता और अलगाता हुआ चलता है, ऐसी स्थिति में उनका संसारबन्धन कहाँ और कैसे होगा ?

विशेष-सभी शुभाशुभ घटनाओं में भगवत्कर्तृत्वबोध के कारण स्वकर्तृत्वभावना समाप्त हो जाती है। भोक्तृत्व भी कर्तृत्वविशेष है इससे वह भाव भी नहीं रहता और तब सभी संकटों का मूल अहंकार मिट जाता है। तब रसमय भगवदनुभव निर्बाध चलता रहता है। ऐसे अनुभवशील महापुरुष जीवनकाल में ही मुक्त होते हैं, उनपर दुःखों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

यदिह कर्म महद् यदि वाऽल्पकम्
भवति वैधमवैधमथापि वा।
सकलकारकरूपधरो हरि–
र्भवति तत्र परः सकलावरः।।१८४।।

इस जीवन में बड़ा या छोटा विहित या निषिद्ध जो भी कर्म होतें हैं उनके कर्ता से अधिकरण तक सारे कारकों के रूप में भगवान् ही होते हैं। उनसे अतिरिक्त सारे तत्त्व उन कर्मों को निष्पत्ति में सदा उनके संकल्प से ही सफल होते हैं।

विशेष–ऐसी स्थिति में कर्ता जीव का फलसम्बन्ध केवल उसके उस अज्ञान से होता है जिसमें वह अपने को कर्ता मानने से विचलित नहीं होता। काटने के लिए बँधा बकरा अपने स्थान से विचलित नहीं हो पाता इससे उस पर शस्त्र चल जाता है। अहंकार जनित कर्तृत्व का दृढ़ भाव वैसा ही बन्धन है।

श्रुतिरहस्यमिदम्भगवज्जनै–
रवधृतम्मनसा यदि धारयेत्।
न स विमुक्तिपथेऽर्गलरूपिभि–
र्भवति रुद्धमतिर्धनकर्मभिः।।१८५।।।

श्रुतियों का उक्त रहस्य भागवतों ने समझा है, जो कोई भी व्यक्ति इस रहस्य को मन में सदा धारण करेगा उसकी बुद्धि मोक्षमार्ग में प्रगति करती ही जायेगी। प्राचीन जटिल नाना कर्म उसकी बुद्धि का अवरोध नहीं कर पायेंगे।

सुमतिरोधि कृतं सुचिरं वहन्
सुमतिमेव पुमान् कथमाप्नुयात्।
बहुलवर्त्ममये तु चरन् भवे
सुपथमेति यता सुकृताणुना।।१८६।।

यहाँ प्रश्न होता है कि उक्त श्रुति रहस्य का ज्ञान कल्याणकारी एक अपूर्व ज्ञान है जो निष्पापों को ही प्राप्त हो सकता है। जिसके साथ सद्बुद्धि को रोकने वाले प्राचीन पाप चल रहे हैं उसे तो उक्त रहस्य का ज्ञान होना ही सम्भव नहीं है तो उसके उक्त प्रभाव का प्रसंग कहाँ बनता है ? उत्तर है कि कर्मों की गति कोई नहीं जानता। पापों के साथ कोई छोटा भी पुण्यकर्म हो सकता है उसी से अमंगलप्रधान इस जगत् में भी कोई

कल्याणमय सात्त्विक मार्ग मिल सकता है। मिलने के बाद सावधानी बरतने से वह और स्पष्ट भी हो सकता है, प्रगति जारी रहे यह असम्भव नहीं है। इसी से श्रुति हमें परमात्मा से प्रार्थना करना सिखलाती है कि ''असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।

इति वदन् भगवान् गुणवत्तमो
हरति तद भवभीतिमतां तमः।
सकलदर्शनकाननचारिण–
मुपचितं हृदि यन्न परैर्हृतम्।।१८७।।

उक्त श्रुतिरहस्य जानने से चेतन का कल्याण सुनिश्चित है ऐसा समझते हुए ही, सामान्यरूप से सब का कल्याण चाहते हुए ही, प्राणिमात्र के प्रति सुहृदभाव और दया होने से ही, भगवान् ने उक्त रहस्य का उद्घाटन किया है, इससे नाना दर्शन रूपी जंगलों में चिरकाल भटक कर भी निराश और खिन्न मनीषियों के हृदय में जमीं आत्मकल्याण के प्रति निराशा का वह अन्धकार नष्ट होता है जो दूसरों के द्वारा कभी नष्ट न हो सके।

विशेष–सृष्टि के आरम्भ से ही संसारी चेतनों को त्रिविध दुःखों के फलस्वरूप आत्मरक्षा और आत्महित की चिन्ता रही है। सभी दुःखों का मूल चेतन का अनादि प्रकृति सम्बन्ध माना गया है। वेदादि शास्त्र प्रकृति सम्बन्ध छुडाने के उपाय बतलाते हैं। बुद्ध का अवैदिक मिथ्यावाद प्रामाणिकों को समझ में नहीं आता। यथार्थवादी दृष्टि से उपनिषदों की व्याख्यायें होती हैं किन्तु प्रकृति के वे रहस्य नहीं खुलते जो अति सूक्ष्म आत्मा को बाँधते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता शास्त्र में प्रकृति से छूटने का एक ही उपाय बतलाया है तत्त्वनिष्ठा पूर्वक निस्काम कर्मानुष्ठान्। तत्त्वनिष्ठा आचार्य निष्ठाधीन होती है। पूर्व सुकृतों के बिना आचार्यनिष्ठा नहीं होती। फलतः भवबन्धविमुक्ति वाम्परया और साक्षात् भगवत्कृपा के ही अधीन है। ''यत्करोषि. .....मदर्पजम्'' से बात समझ में आने से प्रभु के प्रति पूर्ण निर्भरता आती है और आत्मकल्याण की चिन्ता सदा को मिट जाती है।

प्रकृतिसंगिगुणा न हरेर्मताः
परममुष्य धियो वहवो गुणाः।
दवधारणतत्परचेतसः
सततदृङ्निरताः श्रुतिसूरयः।।१८८।।

प्रकृति में रहने वाले सत्त्व आदि गुण परमात्मा में नहीं होते, वे केवल

जीवों के अन्तःकरण में होते हैं। किन्तु भगवान् का नित्य ज्ञान सौहार्द दया क्षमा वात्सल्य आदि नाना रूपों में रहता है, यही भगवान् की भगवत्ता है। उन गुणों का थाह पाने के लिए अनादि वेदराशि और नित्य सूरिगण प्रयत्नशील हैं। अनन्त गुणों की थाह उन्हें भी कैसे मिले ?

भगवतः प्रथिताः सकला गुणाः
सकलजीवजयाय विमुक्तये।
इति विदंस्तदनुस्मृतिलीनधी–
रनुगतः प्रणतिं तनुते रतिम्।।१८९।।

भगवान् के प्रसिद्ध सारे गुण सभी जीवों को अपनी ओर खींचने और उन्हें मोक्ष कल्याण प्राप्त कराने के लिए हैं। जो अधिकारी यह तथ्य जानता है वह उन गुणों का विवेचन मनन चिन्तन करता हुआ सहज ही भगवान् की सेवा में लग जाता है और पूर्ण समर्पण पर्यन्त अनुराग प्राप्त कर लेता है।

प्रकृति जे विषये रतिरात्महा
भगवदीयगुणेषु किलात्मदा।
सुबलदा अपि नेति तिरोहित–
न्तदपि हन्त ! भजन्ति हरिं न तम्।।१९०।।

प्राकृतिक विषयों में रति आत्मा का नाश करती है। भगवान् के गुणों के प्रति रति आत्मा को उपलब्ध कराती है। वह कल्याणमार्ग में प्रगति के लिए दृढ़ विश्वास रूपी उत्तम बल भी प्रदान करती है। यह सामान्य बात किसी से छिपी नहीं है फिर भी आश्चर्य है कि लोग भगवान् की ओर झुक नहीं पाते।

मयि शरण्यगुणौघमहार्णवे
दुरितदोषहरस्मितशोभिते।
प्रपदनवणादरतत्परे
कुरु समुद्धृतिविश्वसितम्मनः।।१९१।।

भगवान् कहते हैं कि रक्षा के उपयुक्त गुणराशि के महासमुद्र, प्राचीन पापों के दुष्प्रभाव का नाश करने वाली मुस्कान से सुशोभित एवं शरणागति के प्रयत्न में लगे महान् आत्माओं का आदर करने में तत्पर मुझ पर यह विश्वास करो कि प्रभु मेरा उद्धार कर लेंगे।

मदनुबद्धमनारतमत्परं
सततमद्भजने यजने स्थितम्।

एततमत्प्रणिपातपरम्मनः
कुरु सुविश्वसितम्मदवाप्तये।।१९२।।

पुनः भगवान् कहते हैं कि अपने मन को ऐसा बनाओ कि वह मुझसे ही जुड़ा रहे, मुझे ही सर्वोपरि माने, सदा मेरे ही भजन पूजन में रहे, और किसी को नहीं बल्कि मुझे ही सदा प्रणाम करे इस तरह मेरी प्राप्ति पर पूरा भरोसा भी अर्जित कर ले। उद्धार का यही मार्ग है।

किमथ दैवतमेवमुदाह यद्
भवभयापगनामम जनः श्रयेत्।
सुमतिसम्भवसात्त्विकमानसं
क उ मराल इवैति चिरेप्सितम्।।१९३।।

अन्त में देवताओं से परमात्मा की असाधारणता बतलाते हुए पूछते हैं कि वह कौन देवता है जिसने अपनी शरणागति का ऐसा सुझाव दिया हो और रक्षा का भरोसा भी दिलाया हो। वह कौन देवता है जो संसारी चेतन के सात्त्विक चित्त में चिर प्रतीक्षित कल्याणमय ज्ञान के उदय के बाद मानस सरोवर में हंस की भाँति उतर जाता हो।

स्वविशेषान् हरिः प्राह स्वाप्त्सारांश्च सादरम्।
नवमेऽश्वेन्दु (१७) पद्यैस्तत्सारांशां मृदु वर्णितः।।१९४।।

नववें अध्याय में भगवान् ने अपनी प्राप्ति के उपयुक्त कुछ विशेषतायें बतला कर प्राप्ति का उपाय भी आदरपूर्वक बतलाया है। उसका सारांश यहाँ सत्रह (१७) श्लोकों में सरस भाषा में वर्णित है।

नवाँ अध्याय समाप्त

अथ दशमोऽध्यायः

यदिह किंचन दृष्टमपि श्रुतं
यदपि कल्पनया सुधिया धृतम्।
तदति सीमितकर्मफलात्मकं
न तदसीम हरेस्त्रिदशा बिदुः।।१९५।।

इस संसार में जो भी कुछ देखा या सुना जाता है, या कोई विद्वान् अपनी कल्पना से जो कुछ मान लेता है वह संसारी जीवों के अनन्त कर्मों

में से बहुत सीमित कर्मों का फल है। अनन्त कर्मों के जो असीम फल भगवान् की लीलाविभूति के अंग हैं उन्हें देवता भी नहीं समझ पाये हैं।

द्रुहिणमुख्यसुराः कृतकर्मणाम्
भगवता विदता फलमाऽश्नुवन्।
अगणिताण्डकटाहविवर्तिनो
भगवतो विभवो न धियः पदम्।।१९६।।

अनन्त ब्रह्माण्डगोलकों में विचरण कर रहे ब्रह्मा आदि देव जो अपने-अपने प्राचीन कर्मों के फल प्राप्त करते हैं वह सारी प्राप्तियाँ उन-उन कर्मों और फलपरिपाकों को स्पष्ट जानते हुए भगवान् के द्वारा ही हुआ करती हैं, इस प्रकार भगवान् की अनन्त महाविभूतियों की सीमा किस की बुद्धि की पकड़ में आने वाली है।

अपि च कर्मवशा असुराः सुरा
ऋषिमुनिप्रवरा मनवो नराः।
यदपि किंचन भावनया धिया
किमपि कर्तुमपासितुमिच्छवः।।१९७।।

और कर्माधीन होने से सीमित प्रज्ञा वाले असुर देव ऋषिश्रेष्ठ मुनिश्रेष्ठ मनु और मनुष्य जो भी कुछ अपनी सहज भावना से या विवेक से जो कुछ पाने या दूर करने की इच्छा से-

विदधते शुभमप्यशुभं स्थिरं
विहतमाशुफलं चिरगामि वा।
तदखिलं हरिणाऽन्तर वर्तिना
विशदबोधवतैव विधीयते।।१९८।।

शुभ या अशुभ, स्थायी या विघ्न से बाधित तत्कालफलवाला या दूरगामीफलवाला निर्माण या उद्योग करते हैं वह सब के अन्तर्यामी व्यापक जानकारी रखने वाले परमात्मा के संकल्प से ही होता है।

विशेष-इससे उनके इस संसार में उनके जानते कोई अव्यवस्था नहीं है। संसारी जीवों की इच्छा से कार्य होने पर युगव्यवस्था और कर्मफल व्यवस्था बाधित हो जाये।

स्मरणचिन्तनभावनवांछन-
प्रयतनेषु जनो निजकर्तृताम्।

कलयतेऽकलयन् कलनां हरे-
रविहताम्बहिरन्तरवर्तिनः।।१९९।।

मनुष्य जो कुछ स्मरण करता है, जो कुछ सोचता है, जो कुछ भावना बनाता है, जो कुछ इच्छा बनाता है और प्रयत्न करता है उन सभी स्मरण आदि व्यापारों में अपने को स्वतन्त्र कर्ता मानता है, वह यह नहीं समझ पाता कि अन्तर्यामी प्रभु के संकल्प से ही मेरे चित्त की सारी गतिविधियाँ हो रही हैं, वह यह भी नहीं समझ पाता कि मेरे अन्दर की तरह के तत्त्वों पदार्थों और व्यक्तियों पर भी सत्यसंकल्प प्रभु का पूर्ण नियन्त्रण है।

विशेष-इससे यह समझ लेना चाहिए कि जीवों के प्रति सारे अर्थों की सारी अनुकूलता प्रतिकूलतायें प्रभु के संकल्प से ही बनती हैं। ऐसी यथार्थ भावना न बनने से सर्वत्र रागद्वेष होते रहते हैं और संसार बढ़ता है। उसके रोकने के लिए इस तथ्य पर सदा ध्यान रखना चाहिए।

इति हरेरसमं विभवं विदन्
स्वमनसोऽपि तदीयनियन्तृताम्।
निरभिमानमनास्तदुपासने
प्रयततेऽभ्युदयाय रामाय च।।२००।।

इस प्रकार भगवान् का असामान्य प्रभुत्व और अपने चित्त पर भी उनका ही नियन्त्रण जानने वाला व्यक्ति अपने स्वतन्त्र कर्ताभोक्तापन का अभिमान त्याग देता है और अपने वास्तव अभ्युदय और चित्त की शान्ति के लिए प्रभु से नित्य प्रार्थना करता हुआ अपने सारे कर्तव्यों को उनकी सेवा का रूप देने का प्रयत्न करने लगता है।

विशेष-उक्त प्रयत्न ही निष्काम कर्मयोग है।

निरभिमानतया दयया हरे-
स्तदुदिते पथि संचरतः परे।
अनुगतेष्वपि कर्मसु बाधकं
स्रवति तेन फलं लभते यतिः।।२०१।।

उक्त प्रकार से अभिमान का त्याग होने से प्रभु की दया का प्रभाव बढ़ता जाता है और साधक प्रभु के बतलाये सर्वोत्तम मोक्षमार्ग पर चलने लगता है, उस समय यद्यपि उसके प्राचीन सारे कर्म उसके साथ लगे रहते हैं किन्तु प्रगति में बाधक कर्म छूटते जाते हैं, इससे प्रयत्नशील मुमुक्षु के साधनपथ में सफलता होती जाती है।

विशेष-वेदोक्त मोक्षमार्ग का ही विशद वर्णन महाभारत गीता विष्णुपुराण श्रीमद्भागवत आदि में है।

भगवतो विभुताप्रभुते विदा–
ऽनवधृते यदि नो निरहंकृतिः।
मतिरभूत्, किमु तेन सुसाधितं
सनियमेन यमेन दमेन वा।।२०२।।

विद्वान् साधक ने यदि भगवान् की शास्त्रोक्त व्यापकता और नियामकता नहीं समझी जिससे उसका कर्तृत्वाभिमान दूर नहीं हो सका तो उसने अपने अज्ञानमय यमनियमों सो या आग्रही इन्द्रियदमन से क्या पाया ?

दिवि भुवि प्रथिता गुणशालिनो
विभववीर्यविशेषविभासुराः।
ऋषिमुनिप्रवरा असुराः सुरा
नृपशवोऽथ महीधरभूरुहाः।।२०३।।

स्वर्ग में या पृथ्वी पर गुणवान् श्रेष्ठ ऋषिमुनि असुर देवता मनुष्य पशु पर्वत और वृक्ष जो अपने वैभव और पराक्रम से ख्याति प्राप्त हैं-

तदखिलम्भगवान् बहुरूपधृक्
सकललोकलयोदयकारणम्।
परिणतीरखिला अपि कल्पयन्
स्वबललेशत एव गुणोदधिः।।२०४।।

वे सब बहुत रूप धारण करने वाले गुणों के सागर भगवान् ही हैं जो अपने बल के लेशमात्र से प्राकृतिक सारे परिणाम कराते रहते हैं।

दशमे दशभिः (१०) पद्यैः श्रीहरेर्बिभुतोदिता।
तथैव कृत्स्नकर्तत्वं यतः स्यात्कृत्स्नमर्पणम्।।२०५।।

इस दसवें अध्याय में दस श्लोकों से भगवान् की विभुता (व्यापकता) कही गयी है एवं सारे छोटे बड़े परिणामादि क्रियाओं का कर्तृत्व भी उनका बतलाया गया है। भगवद्गीता के दसवें अध्याय का तात्पर्य भी यही है। इन दो तथ्यों के ज्ञान से मुमुक्षु चेतन भगवान् के प्रति अपना सम्पूर्ण समर्पण मानने की प्रेरणा पाता है।

दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ

अथ एकादशोऽध्यायः

यद्वलोकितवान् हरिमर्जुनो
यदबबोधितवान् भगवांश्च तम्।
यदभवत्स यदास यदस्त्रि वा
तदवगच्छति तत्कृत धीर्नरः।।२०६।।

विश्वरूपदर्शननामक एकादश अध्याय में अर्जुन ने भगवान् को जैसा देखा और भगवान् ने उसे कृपा से जैसा समझाया एवं भगवान् उक्त दर्शन के समय जैसे बन गये या पहले जैसे थे और सदा जैसे रहते हैं वह सब रूप वही समझ पाता है जिसकी बुद्धि भगवान् वैसा समझने योग्य बना देते हैं।

जगदिदंच यदेव यदात्मकं
समवयन्ति हितं यदि वाऽहितम्।
त्रिगुणचित्तभिदाऽऽहितबुद्धय–
स्तनुभृतस्तदपीश्वरकर्तृकम्।।२०७।।

एवं सत्त्वादिगुण कृतविविधभेदयुक्त बुद्धिवाले संसारी चेतन इस जगत् को यह जैसा है एवं इसका नियामक रूप (आत्मा) जो जैसा भी है वह एवं इसका हित रूप या अहित रूप जैसा भी समझ पाते हैं वह सब केवल ईश्वर के संकल्प से ही सम्भव होता है।

न खलु रूपमनुत्तममर्जुनं
हरिरदर्शयदात्ममनीषया।
कृतवशः सकलोऽपि जनोऽद्भुतं
जगदिदम्भगवद्वपुरीक्षते।।२०८।।

यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान् ने केवल अर्जुन को अपना अद्भुत रूप दिखलाया है बल्कि अपने-अपने पूर्व कर्मों के अनुसार प्रत्येक प्राणी भगवान् के विग्रहभूत इस संसार को अद्भुत ही देखता है। अनित्य अशुचि दुःख और अनात्मा को क्रम से नित्य शुचि सुख और आत्मा मानता हुआ सदा चमत्कृत ही रहता है जब कि सारा संसार निर्विशेष है, इसमें रागद्वेष हेतु कोई वास्तव रूप नहीं है। यही संसारियों का अज्ञानमय संसारबन्धन है।

सदनिरूप्यमिदं खलु कृत्स्नशो
जगदनन्तगुणं विविधात्मकम्।
सकलकार्यलयोदयधारण-
प्रवणमीशवपुः प्रसमीक्ष्यते।।२०६।।

यह दृश्य जगत् परमात्मा का शरीर होता हुआ उनके लक्षणों से भी युक्त है। यह सत् है, इसका पूर्ण रूप से निरूपण सम्भव नहीं है, इसके गुण अनन्त हैं, यह नानात्मक है, सारे कार्यों को अपने में लीन करने, उत्पन्न करने और धारण करने वाला है। इस प्रकार अपने सारे लक्षणों के सहित परमात्मा का यह विश्वरूप हम सब के समक्ष है। हमारे अनुभवों के सारे विषय परमात्मा के ही रूप हैं।

विशेष-हम सत्तात्रयवादी हैं, निर्विशेष एक तत्त्व की कल्पना अप्रामाणिक है, अतः दृश्य जगत् में उपलब्ध सत्ता को आरोपित मानने की आवश्यकता नहीं है।

यदन्तर्ब्रह्माण्डम् बहिरपि च यत्तत्त्वमखिलं
विरिंचाद्या देवास्तदुदयलयस्थानसमयाः।
भयश्रद्धाशोकप्रभृतिबहुभावोद्भवमया
विशेषा यन्निघ्नास्तदखिलवपुर्ब्रह्म जयतात्।।२१०।।

जो कुछ ब्रह्माण्ड के अन्दर है, जो ब्रह्माण्ड से बाहर भी सारे तत्त्व हैं, ब्रह्मा आदि देवता एवं उनके अधिकारों के सहित जगत् के उद्भव रक्षा और विनाश के जो नियत समय हैं, एवं भय श्रद्धा शोक आदि नाना भावों के उत्पादक भौतिक सारे तत्त्व जिन परमात्मा के शरीरभूत हैं वे ही सब से श्रेष्ठ एवं महान् हैं अतएव ध्यान उपासना आदि के विषय भी वही हैं।

उलूकादेर्दृष्टिः फलति गहनेऽप्यन्धतमसे
सुसूक्ष्मं दूरं वाऽतिशयितदृशो गृह्यत इति।
विजानन्ति प्राज्ञास्तदिव भगवच्छत्तनयनान्
विनाऽन्ये तं द्रष्टुं सकलकलनं नाप्तशकनाः।।२११।।

यह देखा जाता है कि उल्लू आदि कतिपय रात्रिंचर जन्तुओं की दृष्टि घने अन्धकार में भी सफल हो जाती है, एवं अंजन आदि उपायों से कुछ लोग अति सूक्ष्म व्यवहित तथा दूर की वस्तुएँ देख लेते हैं दूसरे लोग वैसा नहीं देख पाते। ऐसे ही भगवान् के द्वारा जिन्हें दृष्टि प्राप्त होती है वे ही उन्हें समस्त विश्व के धारक पोषक एवं विभुरूप में देख पाते हैं, बाकी लोग नहीं देख पाते।

गीता गंगा

यदद्राक्षीद्रूपं कतिपयकलाः पाण्डुतनयो
यतो भीतः सौम्यो भव पुनरिति प्रार्थनपरः।
बभूबादो भक्तिम् भगवति विशुद्धां धृतवतां
सुपुण्यानां साक्षाद् भवति सुतरामाह भगवान्।।२१२।।

भगवान् का जो रूप कुछ मिनटों तक पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देखा, जिसे देख इतना व्यथित हुए कि उसी पुराने चतुर्भुज रूप के दर्शन की प्रार्थना करने लगे वह रूप भगवान् के प्रति विशुद्ध भक्ति धारण करने वाले उत्तम पुण्यशाली महापुरुषों को ही अनायास प्रत्यक्ष होता है ऐसा भगवान् ने अर्जुन को कहा है।

विशेष-अर्जुन भगवान् का वह विश्वरूप देरतक देखने में अक्षम रहे एवं भगवान् ने देखने के लिए विशुद्ध भक्तियुक्त किसी पुरुष को अधिकारी बतलाया इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन से भी उत्तम भक्तिवाला कोई अधिकारी, वह रूप देख सकता है।

भक्तिगम्यो हरिर्नैति महतामपि दृक्पदम्।
इत्येकादशतात्पर्यम् मुनिपद्यै (७) रहांचितम्।।२१३।।

भगवान् केवल भक्ति से जाने जाते हैं, वे बड़े (अर्जुनादि) लोगों की भी दृष्टि में नहीं आते, एकादश अध्याय का यही तात्पर्य यहाँ सात श्लोकों में लिया गया है।

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त

अथ द्वादशोऽध्यायः

हरिपदे स्वयदेऽपि मनः सता-
म्यतति तत्र हरेस्तु पदं सुखम्।
स्वपदमस्तविशेषमशेषस-
द्गुणमयं सुगमम्भगवत्पदम्।।२१४।।

मुमुक्षुओं का चित्त अष्टांगयोग से भगवत्स्वरूप का अवहागन करता है, वैसे ही अपने स्वरूप का भी कर सकता है। स्वस्वरूप की अपेक्षा भगवत्स्वरूप का अवगाहन सुगम है, क्योंकि स्वस्वरूप में देह इन्द्रियादि से

भेद के सिवा ध्यानयोग्य कोई विशेषण नहीं होता जब कि प्रभु के ध्यान में उनके समस्त कल्याणगुणगण ध्येय होते हैं। आलम्बन की बहुलता ही ध्यान की सुगमता होती है।

सकलहेयपदे विपदाम पदे
भगवदीयविभूतिपदेऽत्र किम्।
मन इतः परिवर्त्य हरेः पदे
यदि विदा ध्रियते लभतेऽपि तत्।।२१५।।

मुमुक्षु चेतनों को मोक्ष के लिए जो कुछ त्यागने योग्य है वह एवं सारे दुःख भगवान् की इस लीलाविभूति (संसार) में ही है। यह भगवान् की विचित्र लीलाओं का उपकरण होने से श्रद्धेय तो है किन्तु मुमुक्षु चेतनों के लिए उपादेय यहाँ कुछ भी नहीं है, ऐसी स्थिति में यहाँ से मन को लौटा कर यदि कोई विवेकी भगवत्स्वरूप में लगाता है तो भगवान् को पा भी लेता है जब कि संसारी वस्तुएँ मन लगाने पर भी या तो मिलती ही नहीं और मिलती भी हैं तो वह दुःखमय होती हैं।

सततमभ्यसनात् सुखिचारणाद्
विरतिमद् भगवत्पदगम्मनः।
ववसति तत्र चिराय विहाय तद्
यत उदेति विधूतकुवासनम्।।२१६।।

निरन्तर योगाभ्यास से एवं मनोयोगपूर्वक भगवत्स्वरूप के विशद चिन्तन से वैराग्य युक्त मन उन सारे तत्त्वों से हट कर भगवत्स्वरूप को पाकर चिरकाल तक वहीं टिका रहता है जहाँ से अपने कुसंस्कारों के धुलने के बाद परमपदपर्यन्त ऊर्ध्व लोकों की सफल यात्रा करता है।

यदि सुदीनतमे करुणा नृणाम्
भवति तन्महिमा न तथा मतः।
जनकजाकरूपेव तु रावणे
भगवतः: करुणां कलयत्यलम्।।२१७।।

मोक्षपथ पर चलने के लिए अपेक्षित अनेक गुणों में से दया गुण के बारे बतलाते हैं कि बहुत दीन दशा को प्राप्त व्यक्ति पर प्रायः मनुष्यों की दया देखी जाती है, वह एक अच्छा गुण है किन्तु उसका उतना महत्त्व नहीं है जितना रावण के द्वारा हरण के बाद अशोकवाटिकास्थित सीता जी की दया रावण पर प्रकट हुई थी। वैसी दया ही भगवान् की दया का दोहन कर

पाती है।

विशेष-अपने घोर अपराधी पर भी, अपराध की अवस्था में भी टिकने वाली सर्वभूत दया ही वास्तव दया है। वह दया सीताजी के जीवन में रही है। बाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं।

विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि।। सं. २१-श्लो. २०
प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम्।
मां चास्मै प्रणतो भूत्वा निर्यातयितुमिच्छसि।। सं.२१-श्लो.२१

जब रावण सीता जी के समक्ष वाणी से अपने अपराध बढ़ाता जा रहा था उस समय सीता जी यह आत्म विश्वास रखती हुई कि मैं इस आततायी के प्रति पतिदेव को अनुकूल कर लूंगी, बार-बार श्रीराम को शरणागतवत्सल कह रही थीं। वह जान मारने की धमकियाँ दे रहा था और सीता जी कह रही थीं मालुम होता है कि यहाँ तुमको उचित सलाह देने वाला कोई नहीं है जिससे मृत्यु की ओर बढ़ते जा रहे हो।

बहिरलग्नसुयन्त्रितमानसः
सुदृढधीः स्वसमुद्धरणे हरेः।
भगवदेकमनोगतिरात्मवान्
प्रियतमा हरिणोद्ध्रियतेऽचिरात्।।२१८।।

जिस मुमुक्षु का चित्त शमदमादि से नियन्त्रित होने से बाह्य शब्दादि विषयों में नहीं लगता, भगवान् के द्वारा संसार से अपने उद्धार का जिसे पूरा भरोसा हो, जो आत्मवान् हो अर्थात् जिसे अपने स्वरूप और भगवान् से अपने सम्बन्ध का दृढ़ बोध हो चुका हो, फलतः जिसका मन सदा भगवान् में ही लगता हो वह भगवान् का विशेष प्रिय होता है जिससे वे उसका शीघ्र उद्धार करते हैं।

विषयहर्षविमर्शविरोधधी-
विरहितोऽखिललोकमनःप्रियः।
भगवतः प्रियतामुपयात्यलं
सकललोकमनो भगवन्मनः।।२१९।।

जिसका चित्त विषयों को छूता ही नहीं, जिससे उसे उनके प्रति हर्ष या द्वेष नहीं होता, फलस्वरूप जो सारे लोगों का प्रिय होने से भगवान् का भी प्रिय हो जाता है, जिससे उद्धार का भरोसा बढ़ता है। भगवान् का अपना

मन नहीं होता, संसारियों के मन को ही वे अपना मन मानते हैं। इसी से जो व्यक्ति ऋजुतावश सबका प्यारा होता है वह भगवान् का भी प्यारा हो जाता है।

भगगवतस्त्वितरन्न सताम्मनः
किमपि वांछति कुप्यति न क्वचित्।
सुपरिशुद्धधियो भगवत्परा
भगवतः पदमाप्नुवतेऽचिरात्।।२२०।।

सत्पुरुषों के मन में भगवान् से अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं होती, इसी से किसी भी संयोग वियोग से उन्हें क्रोध नहीं होता ऐसी स्थिति तत्त्वबोध की दृढ़ता से चित्त की पूरी शुद्धि होने पर ही बनती है, तब वे एकमात्र भगवान् को ही उपाय और उपेय मानने लगते हैं तब निष्ठा से प्रसन्न भगवान् की कृपा से वे शीघ्र ही भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

अमृतधर्ममयीम्भगवद्रतिं
दधति चेतसि ये भगवत्पराः।
तदनवाप्तिविषणामना हरिः
सगरुडस्त्वरते तदवाप्तये।।२२१।।

मोक्षधर्म कहलाने योग्य इस भगवद्भक्ति को जो भगवत्परायण लोग धारण करते हैं उन सत्पुरुषों की प्राप्ति के बिना मानो भगवान् दुःखी रहते हैं इससे उनको पाने के लिए गरुड़ के सहारे शीघ्र निकट पहुँचते हैं।

भक्तिरेव हरौ दोषवर्जिता मुक्तिदा सताम्।
इत्युक्तं द्वादशे श्लोकै रष्टभि (८) स्तदिहा हृतम्।।२२२।।

संसार वासनारूपी चित्तदोषों के हटने पर जो भगवद्भक्ति प्राप्त होती है वही भगवान् को अतिशय प्रिय होती है, उसी के फलस्वरूप भगवान् मोक्ष प्रदान करते हैं। यह बात द्वादशाध्याय में विस्तार से वर्णित है जो यहाँ केवल आठ श्लोकों में संगृहीत है।

बारहवाँ अध्याय समाप्त

गीता गंगा

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

बहति कर्म पुमान् लघु बीजवद् वपुरिदं तदवाप्य विरोहति।
फलति तत् पुरुषस्य यथाबलं कृतमनेन पुमांसमनुब्रजेत्।।२२३।।

चेतन इस संसार यात्रा में अपने प्राचीन कर्मों को अति सूक्ष्म बीज की भाँति लिए चलता है। उनमें कुछ कर्म नया स्थूल शरीर पाकर अंकुरित होते हैं एवं अपनी शक्ति के अनुसार पुरुष को फल देते हैं, वे ही प्रारब्ध कहे जाते हैं। वर्तमान शरीर से होने वाला कर्म अगले शरीरों में भी पूर्ववत् पुरुष का अनुगमन करते हैं।

यदनुतिष्ठतिकर्म धिया पुमां-
स्तदनुगच्छति सूक्ष्मवपुः श्रयत्।
फलति तज्जननान्तरदेहत-
स्तदिदमावपनम् मुनिभिः स्मृतम्।।२२४।।

पुरुष जो भी कर्म जानबूझ कर करता है वह उसी समय नष्ट न होकर सूक्ष्मरूप धारण करके उस पुरुष के सूक्ष्म शरीर का अंग बन जाता है, इससे दूसरे जन्म में भी उसी सूक्ष्म शरीर के होने से वह कर्म भी रहता हुआ दूसरे शरीर में पनपता है इसी से इस स्थूल शरीर को मुनियों ने क्षेत्र (कर्मबीज अंकुरित होने का स्थान) कहा है।

यदिदमावपनम्मुनिभिः स्मृतं
तदहमित्यवगच्छति पूरुषः।
उभयभेदविचारविधौ बुधै-
रथ स तद्विदिति प्रथितः परः।।२२५।।

यह जो स्थूल शरीर मुनियों के द्वारा क्षेत्र कहा गया है, इसके अन्दर का चेतन इससे अत्यन्त भिन्न होने पर भी अज्ञानवश अभेदभाव रखता हुआ ''मैं'' मानता है, इससे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है किन्तु मोक्षमार्ग में चलते समय आत्मा से अत्यन्त भेद का ध्यान रखते हुए इसे सदा भेद सहित जानते रहने के कारण भी क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।

स्मरति सर्वविभूतिमहन्तया
हरिरुदारतया स्ववपुस्तया।
प्रथमभूतिपुमांसमतोऽब्रवी

दहमिति प्रमितं स्वपृथक्तया।।२२६।।

संसारीजीवों की भाँति भगवान् भी अपने से भिन्न स्थूल, सूक्ष्म तत्त्वों को ''मैं'' मानते और कहते हैं, किन्तु उनकी मान्यता अज्ञान जनित नहीं बल्कि उदारता के कारण है। इसी से अपनी सर्वश्रेष्ठ विभूति जीव आत्मा को अपने से भिन्न जानते हुए भी गीता दसवें अध्याय में ''अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'' कहते हुए अहम् (मैं) कहा है।

विशेष-आत्यैक्यवादी उक्त वाक्य में प्रतीत अभेद को प्रामाणिक कहेंगे, किन्तु दसवें अध्याय में ही आगे के वचनों में अश्वत्थ आदि में प्रतीत अभेद को उन्हें भी आरोपित ही मानना पड़ता है। सर्वत्र असमंजस अभेदवाद में मोह का त्याग करने में ही हित है।

तदिदमावपनं तदभिन्न धी-
रपि पुमान् मुनिभिर्वहुचोदितम्।
प्रकृतिपूरुषभेदविवक्षया
स्मरति चेन्मतिमान् स मुमुक्षुया।।२२७।।

शरीररूपी इस क्षेत्र का वर्णन ऋषिमुनियों ने विविध प्रकारों से किया है। शरीर और आत्मा के परस्पर भेद का ज्ञान मुमुक्षु को उतना ही दृढ़ होगा जितना अधिक उनके विशेषों का ज्ञान होगा। इसी दृष्टि से ऋषियों ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। जो मुमुक्षु शरीर सम्बन्धी विशेष ज्ञान रखता है वह पूर्व कुसंस्कारों से देहाभिमान रहने पर भी मोक्ष की इच्छा से शास्त्र-ज्ञान रहने के कारण ज्ञानवान् ही माना जाता है। इसी से भगवान् ने ''एतद् यो वेत्ति तम्प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः'' ऐसा कह कर उसकी प्रशंसा की है।

प्रकृतिसर्वविकारविनिर्मितम्
पुरुषरागविशेषचमत्कृतम्।
वपुरिदं विशदम्प्रतियन्ति ये
भवभयाम्बुधिमाशु तरन्ति ते।।२२८।।

यह शरीर प्रकृति के महत्तत्त्व अहंकार पंचतन्मात्रा पंचभूत और ग्यारह इन्द्रियरूपी सारे विकारों से बना हुआ है। इसमें रहने वाला पुरुष अपने प्राचीन कर्मों के फलस्वरूप इसमें विशेष राग रखता हुआ सदा इस सजाता सवाँरता रहता है। इसे शास्त्रीय रीति से विस्तारपूर्वक जो लोग समझते हैं वे संसारभयरूपी समुद्र को शीघ्र पार कर लेते हैं।

अथ पुमांसमनादिमिह स्थितं
स्वमवगच्छति यच्छति चेन्मनः।
यतिरमुण्य धिये सुमहागुणान्
सुयमिनः कलयन्ति नरशंकगान्।।२२९।।

यदि इस शरीर में स्थित अनादि पुरुष अपने आपको कोई सामान्य रूप से जानता हुआ स्पष्ट जानकारी के लिए अपने चित्त को स्वस्वरूप में लगाता है तो उसे अपेक्षित ज्ञान प्राप्त हो जाये इसके लिए उत्तम योगियों ने बीस उत्तम महान् गुण बतलाये हैं।

विशेष-भगवद्गीता तेरहवें अध्याय के ''अमानित्वम् अदम्भित्वम्'' इत्यादि से ''एतज्ज्ञान मिति प्रोक्तम्'' तक गिनाये बीस गुण मनन करने योग्य हैं। वे ही नीचे क्रम से बतलाये जा रहे हैं।

मतिसदाचरणादिगुणोज्ज्वलान्
प्रति खलाः प्रथयन्त्यवधीरणाम्।
प्रथमदुर्गुण एष निरस्यतां
स्वमनसः सुजनश्च निषेव्यताम्।।२३०।।

खल प्रकृति सद्गुणों के प्रति दोषदृष्टि उत्पन्न करती है, इससे देखा जाता है कि अधिकांश ज्ञान गुण शील वाले महापुरुषों के प्रति अनादर भाव रखते हैं। ऐसी स्थिति में अपने में उत्तम गुण लाने की इच्छा नहीं होती, आध्यात्मिक प्रगति रुकती है, अतः मान नामक इस दुर्गुण को हृदय से निकालने का प्रयास करते हुए यथासम्भव सत्पुरुषों के गुण अपनाने के लिए उनकी संगति करनी चाहिए।

चरति कर्म शुभं कुमतिर्यतो
भवति घातकपातकपोषणम्।
सुमतिवारितपापरुचिः पुमान्
सुकृतिसत्फलामत्र समश्नुते।।२३१।।

बुरा व्यक्ति दिखाने के लिए शुभ कर्म करता है उससे उसका समाजविरोधी स्वार्थमय पाप सुरक्षित रहता है, वही दम्भ कहा जाता है। दम्भ देखने में शुभ होता है किन्तु उसका कोई शुभ फल नहीं होता। अज्ञान अवस्था में जाने अनजाने दम्भ होता ही रहता है, इससे ज्ञान प्राप्ति की इच्छा रखते हुए यथा शक्ति दम्भ से बचना चाहिए और तत्त्वबोध अर्जित करते हुए सत्कर्मों के स्वर्गादि फल या भगवत्प्रीतिरूपी महाफल प्राप्त करने की योग्यता बनानी

चाहिए।

महदहंकृतिवर्धितदुर्मति-
स्तदनुतिष्ठति दुःख्यति यज्जनः।
असुखलेशमपास्य परेषु य-
श्चरति दुश्चरितैः स विमुच्यते।।२३२।।

इस शरीर का पहला घटक है महत्तत्त्व जो अकारण ही महानता की कल्पना कराकर सारे अनर्थ खड़ा करता रहता है। दूसरा घटक अहंकार है जो लौकिक कुछ उपलब्धियों से अपने को अधिक भारी मानने की प्रवृत्ति देकर हिंसामय नाना अनर्थ प्रस्तुत करता है। इन दो दोषों से मनुष्य कुछ न कुछ हिंसामय कर्म करता है, इससे पूर्वपाप पुष्ट होते हैं। आत्मकल्याण के लिए उचित है कि सदा अहिंसा का ध्यान रखता हुआ दूसरे किसी भी प्राणी को कष्ट न हो ऐसी अपनी जीवन शैली बनाये रखे। इस अहिंसामय प्रवृत्ति से पूर्वपाप धीरे-धीरे छूटते जाते हैं और चित्त शुद्धि होने से तत्त्वबोध होने लगता है।

त्रिविधतापपराभवपीडित-
स्तदनुतिष्ठति यात्यसुखं यतः।
सुमतिवर्मपिनद्धमतिः पुनः
पतति नैव कुकर्मसु धैर्यवान्।।२३३।।

मनुष्य को दैहिक दैविक भौतिक सारे दुःख केवल प्राचीन पापों से होते हैं किन्तु इस बात पर ध्यान न होने से वह सामने के दुःख हेतु का प्रतीकार करता हुआ हिंसा आदि साधन अपनाने लगता है जिससे आगे और भी दुःखों का कारण बनता है और आध्यात्मिक प्रगति रुक जाती है। किन्तु जिसे कर्मफल सिद्धान्त नहीं भूलता वह धैर्यवान् होने से कभी भी आपराधिक कर्मों में हाथ नहीं बँटाता और पापों से बचा रहता है। यही क्षमागुण है, जीवन में इसका संग्रह करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अनृजुताऽऽत्मगुणप्रतिरोधिका
कुमतिदम्भवताऽऽद्रियतेऽसता।
मतिमतामृजुता न जडात्मता
गुणमयीयमतो ध्रियतां सदा।।२३४।।

मनुष्य में दो स्वभाव मिलते हैं, सरलता और कुटिलता। दोनों बुद्धिभेद से दोष भी माने जाते हैं और गुण भी। यहाँ सरलता नामक गुण का प्रस्ताव

है। अपनी गलत भावना छिपाने के लिए कुछ दम्भ करना पड़ता है, बुराई रहते भी अपने को कुछ अच्छे रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। यह कुटिलता नामक दोष है। इसे दुर्बुद्धि और दम्भी व्यक्ति ही अपनाता है। इसके होने से कल्याणकारी गुणों का लाभ और विकास रुक जाता है इससे इसका त्याग करके अपने को वास्तव रूप में ही सदा प्रस्तुत करना चाहिए, जो रूप समाज को अप्रिय हो उसका त्याग करना चाहिए, शास्त्र ज्ञान के अभाव में पण्डित बनने का मिथ्या प्रयत्न नहीं करना चाहिए, धन और शील के अभाव में अपने को धनवान् और शीलवान् सिद्ध करने के कपट उपाय नहीं अपनाने चाहिए। अज्ञानरूपी भोलापन से भिन्न यह ऋजुता गुण जो मूल्यवान् अनेक आध्यात्मिक गुणों से नित्य युक्त रहता है, सदा धारण करना चाहिए।

श्रुतिरहस्यविवोधपटुर्महान्
हरिपथाचरणे कृतशिक्षणः।
चिरगवेषणया गुरुराप्यते
हरिधिया स शुभाय निषेव्यताम्।।२३५।।

अध्यात्म मार्ग में प्रगति के लिए वेदादिशास्त्ररहस्यों का सतत बोध ही एकमात्र अबलम्ब होता है। इसके लिए सदाचार्य की अपेक्षा होती है। स्वार्थमय अविद्याप्रधान संसार में आचार्य दुर्लभ होते हैं, सदाचार्य का तो कहना ही क्या है, वे बड़े ही प्रयत्नों के बाद किसी बड़े सुकृत से मिल पाते हैं। जब तक वे न मिलें तब तक आत्मकल्याण की कल्पना नहीं होती। यदि दैववश वे मिल जायें तो उनका अर्चन उन्हें साक्षात् नारायण मानकर करना चाहिए। भगवान् ही आचार्य के रूप में मिल कर सेवायें लेते हुए कल्याणमार्ग में आगे बढ़ाते हैं। वे इतने महान् होते हैं, कि इस संसार में कोई भी वस्तु उन्हें झुका नहीं सकती। वे श्रुतियों के रहस्यभूत अर्थ हृदय में बड़ी ही कुशलता से वैठा देते हैं, क्योंकि उन्हें भगवद्धर्म के ज्ञानपक्ष और अनुष्ठान पक्ष का समान प्रशिक्षण पूर्व आचार्यों से मिला होता है। रहस्यार्थ बोध के स्थिर हो जाने पर मोक्ष सुनिश्चित होता है। ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' ''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'' इत्यादि वचनों का यही तात्पर्य है।

शुचि मनो वचनं वसनं वपु-
र्भवति यस्य स सत्फलमश्नुते।
सुचरितस्य, शुचित्वमतो विदा
सकलमेव सदैव विधार्यताम्।।२३६।।

जिसका मन वचन शरीर और वस्त्र पवित्र होता है वही अपने किये शुभ कर्मों का फल प्राप्त करता है, इससे विवेकी को सदा पूर्ण पवित्रता का पालन व धारण करना चाहिए।

विशेष-हर समय पवित्र रहना, त्रिकाल सन्ध्या करना, पांचकालिक भगवदुपासना करना एक बहुत अच्छी बात है। कतिपय पौराणिक सन्दर्भों से यह निश्चित होता है कि मनुष्य का पुराना पाप अपना फल देने के लिए उसे प्रसाद में डालकर अपवित्र स्थिति उत्पन्न करके ही अपना फल दे पाता है, पूर्ण पवित्रता स्थिति उत्पन्न करके ही अपना फल दे पाता है, पूर्ण पवित्रता की स्थिति में अशुभ फल हो नहीं पाते। इस विषय का ज्ञान मनुष्य अपने जीवन की घटनाओं से स्वयं बढ़ा सकता है।

यदपि वेत्ति हितं सुजनेरित–
म्परमशान्तमतिर्न करोति तत्।
विरतशान्तधिया स्वहितस्थित–
श्चरति तन्न यतः पुनराव्रजेत्।।२३७।।

स्थिरता गुण अपनाने की बात कह रहे हैं। अपने हितसाधनों से मन को कभी हटने न देना स्थिरता है। मानव अपने हित की बातें सत्पुरुषों से सुनकर समझता तो है किन्तु चंचलतावश मन में धारण नहीं कर पाता। इससे हित कृत्यों से वंचित ही रहता है। यदि विषयविराग से शान्त चित्त की स्थिति में कोई अपने हितों का चिन्तन और ध्यान करता है तो वह ऐसे कर्म स्वयं कर लेता है जिससे संसार का आवागमन बन्द हो जाता है।

विकटमर्कटकर्कशचंचल–
म्मन उदारविचारसुश्रृंखलम्।
यदि करोति सुधीः सततेक्षण–
स्तमनुयाति चिरं कमलेक्षणः।।२३८।।

मानव का मन बन्दर के समान निकट यानी पकड़ से और पैंतरे से बाहर, कर्कश यानी हमले और लूट पाट में हर तरह से सक्षम और सदा अस्थिर रहता है। यदि कोई विवेकी सदा अपने विवेक पर अडिग रहता हुआ इसे क्षुद्र स्वार्थों से हटकर व्यापक भावना वाला और सुव्यवस्थित बना लेता है तो वह कमलनयन भगवान् का इतना प्यारा हो जाता है कि वे उसके पीछे चिर काल तक चलते रहते हैं उसकी रक्षा और प्रगति की भूमिका बनाते ही रहते हैं मनोनियन्त्रण नामक यह गुण पुण्यवानों को प्रयत्नों से ही

मिल पाता है।

विमलपूरुषबन्धनहेतवो
गुणधिया सहिता विषया मताः।
अगुणधामतया सुधियाम्मता
मतिमता मन एषु न योज्यताम्।।२३९।।

चेतन अपने सहज स्वभाव से नित्यनिर्दोष है। विषयों में गुणबुद्धि होने से वह संसार बन्धन में आया है। सात्त्विक बुद्धिवालों ने विषयों को केवल दुर्गुणों का आवास माना है। इससे विवेकी को इन में कभी मन नहीं लगाना चाहिए। जिसका मन वश में होता है उसे वैराग्य प्राप्त होता है।

कतिपयं समयं सह संगतं
वपुरिदं जनितं विलयोचितम्।
कृतफलाय किलेदमथो भवान्
न पुरुषः प्रकृतिर्थवितुं क्षमः।।२४०।।

शरीर में अहम्बुद्धि के त्याग का सुझाव देते हुए कहते हैं कि यह शरीर थोड़े ही समय से आपको विषयानुभव में सहयोग दे रहा है, कुछ पहले यह जन्मा है और कुछ ही बाद इसका नाश होना है। यह केवल पूर्व कर्मों कें फल प्राप्त कराने के लिए मिला है। इसमें कल्याणमय अन्य काम ले लेना विशेष कुशलता है, आप पुरुष हैं, यह प्रकृति है, पुरुष प्रकृति कभी नहीं हो सकता। अतः इसमें अहम् बुद्धि असंगत है।

जनिमृती नियतेऽथ जरारुजे
त्रिविधदुःखकुभाव कुबुद्धयः।
अपि नृजन्मनि का नु कथाऽन्यत–
स्तनुयुतिः पुरुषात्मविमोषिणी।।२४१।।

अपने समग्र जीवन पर व्यापक दृष्टि होनी चाहिए। उसके अनुसार हम जानते रहें कि प्रत्येक प्राणी को जन्म और मृत्यु का कष्ट झेलना पड़ता है, साथ ही रोग और बुढ़ापे से भी कष्ट होते हैं। विवेकशील मानव योनि में भी दैहिक भौतिक दुःख और उनसे नाना दुर्भावनायें और उनसे घातक निर्णय हुआ करते हैं तब दूसरी योनियों में तो यह सब और भी सहज हैं। वास्तव में जब चेतन को शरीर नहीं मिला होता तब वह कछ भी करने लायक नहीं होता और जब शरीर मिल जाता है तो इसके दोषपूर्ण होने से आत्मस्वरूप का प्रकाश नहीं होता और गलत-सलत ही काम होते हैं।

विशेष-यद्यपि शरीर सामान्य रूप से अहम् बुद्धिविषय बन कर अनर्थों का कारण बनता है फिर भी हम चाहें तो शास्त्रीय युक्तियों से इससे मोक्षमार्ग भी पकड़ सकते हैं।

बहति संगमनात्मनि चेत्पुमान्
भवति केवलता विहता स्वतः।
स्वजति चेद्दयितामथवा सुत-
भवति सा विषयाविलता धियः।।२४२।।

बच्चे खिलौनों के लिए मचलते और उनका संग्रह करते हैं, वे अपने को अपने साथ ही पाते हैं, उनके बिना अपना अस्तित्व मानने को वे कभी तैयार नहीं होते फिर भी तथ्य यही है कि खिलौने बच्चों के अज्ञान को सहलाने और उन्हीं में भूले रहने के साधन के सिवा और कुछ नहीं हैं। ऐसे ही आत्मा के लिए संसार में शरीर और इसके सहायकों से वास्तव कोई लाभ नहीं है, न ही शरीर अपनाने और उसमें ममता बान्धने की वस्तु है फिर भी बच्चों जैसे अज्ञानग्रस्त होने के कारण यह ज्ञानवान् आत्मा शरीर में न केवल ममता बान्धता है बल्कि उसमें कर्मप्रमुक्तअज्ञानजनित अहम् बुद्धि भी रखा करता है, इसी से उसकी केवलता यानी सहज अकेलापन काल्पनिक तथ्यों के दर्जे में चला जाता है। तब स्त्री पुत्रादि से लिपटता हुआ अपनी शुद्ध-बुद्धि को काल्पनिक विशेषणों, आत्मीयता, प्रियता, उपयोगिता आदि से युक्त विषयों से दूषित कर लेता है। मुमुक्षु को आत्मा के सम्बन्ध में वह तत्त्वबोध सदा बनाये रखना चाहिए जिससे असद् अर्थों के प्रति थोड़ी भी ममता और अहंकार न टिक सके। शीत प्रदेशों में शरीर रक्षा के लिए वस्त्रों के समान संसार में आत्मरक्षा के सतत तत्त्वचिन्तन की आवश्यकता है। यह तत्त्वचिन्तन ही कर्मयोग को मोक्ष का अव्यवहित साधन बना देता है। इसी से भगवान् ने कर्म में अकर्म यानी तत्त्वचिन्तन देखने का सुझाव दिया है।

सममतिः सकलेऽपि बहिर्भवे
न मनुते घटनासु शुभाशुभे।
भगवदेकमतिर्भगवद्गति-
र्भगवते भगवद्गतमानसः।।२४३।।

मुमुक्षु को चाहिए। कि बाहरी किसी भी घटना से अपने चित्त में कोई क्षोभ न आने दे। यह तभी सम्भव है जब प्राकृतिक सारी घटनाओं को सम माना जाये। आत्मा में कोई परिवर्तन या विकार न ला पाना ही उनकी समता है। घटनाओं को कभी शुभ या अशुभ न माना जाये। जिस मुमुक्षु की बुद्धि सदा भगवान् में ही लगी होती है, जो भगवान् की प्राप्ति का साधन भगवान् को ही मानता है एवं भगवान् के ध्यानादि का जो भी शुभ फल सद्गति मुक्ति आदि हो वह भी भगवान् के लिए ही हो ऐसा सोचता है वही सदा अविकृत रह सकता है।

विषयिणामवलोकनतो भयाद्
विजन एव वसन्ति मुमुक्षवः।
लवणशाकतृणापण चारिणो
न हि भवन्ति सुरलजिघृक्षवः।।२४४।।

विषयी पुरुषों का मुख देखने से भी हानि का भय रहता है। वे दूर तक वह सूक्ष्म विषयवासना बिखेरते हैं जो अनजाने अनायास ही पवित्र हृदय में समा जाते हैं, इससे मुमुक्षु लोग निर्जन में ही निवास करते हैं। यह स्वाभाविक है कि उत्तम रत्न के ग्राहक उस बाजार में नहीं घूमते जहाँ नमक साग और घास बिकती हो।

न जनसंसदि तत्त्वमते रति-
र्भवति तत्त न कोऽपि विवेकवान्।
चिरजुगुप्सितशब्दमुखेप्सया
हतधियोऽसुखयन्ति तु सात्त्विकान्।।२४५।।

तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति को जनसमूह में सुख नहीं मिलता। क्योंकि वहाँ कोई विवेकी नहीं होता। वहाँ तो उन्हीं शब्दादि विषयों की स्पृहा से मारी गयी बुद्धिवाले लोग होते हैं जिन्हें तत्त्व चिन्तन की शुरुआत में ही तत्त्वज्ञ बहुत वेकार मानकर छोड़ चुका होता है। उक्त लोगों की बुद्धि तत्त्वदर्शी को केवल कष्ट पहुँचाती है। तत्त्वनिष्ठा से पूर्व मुमुक्षु अपने को प्रमादस्थान जनसमूह से बचाता हुआ उसमें रुचि नहीं लेता।

इति गुणैः सुमतिर्नखसम्मितैः
स्वमवगच्छति पश्यति चेतसा।
यदवगच्छति पश्यति यच्च तद्
भगवदुक्तमिदम्प्रतिपद्यताम्।।२४६।।

ये बीस गुण बतलाये गये, इनसे ही विवेकी पुरुष अपने आप को समझता और मन से देखता है वह भगवान् के वचनानुसार निम्नप्रकार है।

लरतनुं समवाप्य नरो न चे-
न्नरमवैति वृथा नरता गता।
स्वमवगच्छति रक्षति नैव चे-
दवगतै रचितैर्बहुभिश्च किम् ।।२४७।।

पुरुष शरीर पाकर भी जिसने नर (चेतनतत्त्व) को नहीं समझा उसकी मानवता वृथा गयी। जो अपने को न समझ सका न सुरक्षित कर सका उसका और कुछ समझना एवं दूसरे बहुत से उद्योग किस काम के हुए।

भवति चेदवधानपरम्मनो
न विषयेषु रतिर्वलवत्तमा।
न निरयाय धृतम्बहु पातक-
न्तदवगन्तुमलं स्वमलम्पुमान् ।।२४८।।

जिसने नरक के लिए बहुत पाप अर्जित नहीं किये हैं, विषयों में जिसका अनुराग बलवान् नहीं है, जो ध्यान कर लेता है वही पुरुष अपने को विशद रूप से समझने में सक्षम होता है।

सकलदर्शनतर्कधृतं श्रुति-
स्मृतिपुराणसरः फलितम्महत्।
पुरुषरूपमिदं नररूपिणा
भगवता भजितम्मनुते सुधीः ।।२४६।।

पुरुष (चेतन) का यह रूप जिसे सभी दर्शनों और नाना तर्कों ने पकड़ा है एवं श्रुतिस्मृतिपुराण विद्या रूपी सरोवर में जो प्रतिबिम्बित है, जिसे मानवरूप धारण करके भगवान् ने स्वयं कहा है उसे कोई विवेकी समझ सकता है।

इदमनाद्यमृतम्भगवद्वश-
म्भगवता सदृशं न रमाऽऽस्पदम्।
जगदधीशपदाय न चोचितं
क्व नु विमुक्तिपदे भवभोक्तृता ।।२५०।।

यह अनादि अपरिणामी एकाकार चेतनतत्त्व भगवान् के तुल्य होता हुआ भी लक्ष्मी के आश्रय श्रीवत्सचिह्न के योग्य नहीं है और जगद्व्यापार में स्वरूप से समर्थ होता हुआ भी जगत्पतिपद के योग्य भी नहीं है। भला, मुक्त अवस्था में भी जीव को संसार का सुख कैसे मिल सकता है।

विशेष-यह चेतन तत्त्व नित्यज्ञानानन्दमय होने से परमात्मा के तुल्य होता हुआ भी परमात्मा नहीं है। इससे परमात्मा के दो लक्षण लक्ष्मीपतित्व और जगदीशत्व उसमें मुक्त अवस्था में भी नहीं होते। फिर भी परमात्मा की निरवधिक आत्मीयता और स्नेह के फलस्वरूप सायुज्य प्राप्त होने से मोक्ष सुख में कमी नहीं होती। सायुज्य का माने होंता है तुल्य भोग। भोगों की तुल्यता वहीं तक हो सकती है जहाँ तक सेव्य-सेवक सम्बन्ध की मर्यादा रहे। मुक्त पुरुष को भगवान् का वह सुख वैसे नहीं मिलता जैसे उन्हें लक्ष्मी जी से और लीलाभूमि से मिलता है। फिर भी भगवान् के उस सुख का अनुभव मुक्त आत्मा को निकट से स्पष्ट होता रहता है इससे उसका स्वरूप प्रयुक्त मोक्षसुख बढ़ता रहता है। वहाँ अज्ञान नहीं होता इससे ईर्ष्या जैसे दुःखरूप दोषों का अवकाश नहीं होता।

मितिपदं सकलं सकृदीक्षितु-
म्प्रभवतीदमलंच ततोऽधिकम्।
सकल देहतदर्थविवर्धनं
तत इदम्भजते वृहतः पदम् ।।२५१।।

यह सारे प्रमेयों का एक साथ साक्षात्कार करने में सक्षम तो है ही पर यदि प्रमेय और भी होते तो उनका भी आकलन इसके लिए आसान ही होता। इसकी ज्ञानशक्ति अनन्त है। यह चौरासी लाख प्रकार के शरीरों का धारण वर्धन रक्षण तो करता ही है पर शरीर के उपयोगी दूरस्थ तृण अन्न धन सुवर्ण भवन आदि की भी रक्षा और वृद्धि अपनी कर्मशक्ति से करता रहता है। अपने इसी विकासात्मक गुण के कारण यह भी ईश्वर और प्रकृति की तरह वर्धनार्थक वृहि धातु से बने ब्रह्मपद के द्वारा अभिहित होता है।

श्रुतिकराद्युभयेन्द्रियबर्जितम्
मति गति प्रभृति क्षममाप्तिमत्।
तनुगतं सकलेन्द्रियवृत्तिदं
विविधदेहविधारणकारणाम् ।।२५२।।

यद्यपि यह शरीरस्थ इन्द्रियों के सहारे ही सारे ज्ञान प्राप्त करता देखा जाता है किन्तु सारे ज्ञान इसके ही हैं, ज्ञान के भेद इन्द्रियों और विषयों के भेद से होते हैं, वास्तव में इसे किसी भी रूप रस आदि बाह्य और बुद्धि आदि आन्तर विषयों के ग्रहण के लिए किसी इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं है। इसका विभु ज्ञान सारे अतीत अनागत विषयों को भी सीधे पकड़ सकता

है। संसार अवस्था में ऐसा न हो पाना ही इसका बन्धन है जो मोक्षोपायों के होते समय क्रम से स्वयं घटता जाता है। यह इच्छानुसार अपने संकल्प से कहीं भी जा सकता है और कोई भी वस्तु पा सकता, उसे सम्हाल सकता एवं उसके सारे परिणामों को नियन्त्रित कर सकता है। शरीर में रहते यह सारी इन्द्रियों को स्वयं गति देता है, शरीरों का धारण भी स्वयं करता है।

न सजते क्व च याति ततोऽन्यतो
गुणमयाभजते विगुणं स्वतः।
बसति देहपुरेऽवसतिः स्वयम्
ब्रजति दूरतरम्परितः स्थितम्।।२५३।।

यह किसी भी शरीर या उसके उपकरणों में आसक्त नहीं होता, समय आते ही पक्षी की भाँति पूर्व शरीररूपी वृक्ष का त्याग करके अगले शरीर रूपी वृक्ष पर्वत या झाड़ी में पहुँच जाता है। यह स्वयं तो गुणहीन है किन्तु गुणमय चित्त के माध्यम से गुणमय विषयों को पकड़ता है। यद्यपि यह शरीररूपी पुर में रहता है किन्तु इस व्यापक तत्त्व को किसी आश्रम की अपेक्षा नहीं है। अपने विभु ज्ञान के द्वारा यह बिना यात्रा के सर्वत्र सक्रिय रह सकता है।

न तु सुसूक्ष्मतया मनसो धियो
विषय एतदथो विषयि स्वयम्।
सुबहुदूरगतं निकटस्थितं
कलयितुं सकलं क्षमते क्षणात्।।२५४।।

अति सूक्ष्म होने से इसे मन नहीं पकड़ पाता, अप्राकृत तत्त्व होने से बुद्धि भी इसे पकड़ नहीं पाती और यह स्वयं सारे तत्त्वों को सभी प्रकारों से पकड़ लेता है। यह बहुत दूर रहता हुआ भी किसी भी पदार्थ को पकड़ने और उसे प्रभावित करने के लिए संकल्प से उसके अति समीप रहने में सक्षम होता है। यह तो क्षणभर में विश्व के सारे तत्त्वों को ग्रहण और धारण करने में भी सक्षम है।

सजऽजंगमदेहभिदाऽऽत्मना
स्थितमभिन्नतयैव सदा स्थितम्।
वहति सूक्ष्मनभोमुखमिन्द्रिया-
ण्यसुगणं कृतकर्मचयं स्वयम्।।२५५।।

यह नाना स्थावरजंगम विभिन्नशरीर रूपों से रहता हुआ भी उनके भेदों से अछूता सदा एकाकार रहता है। यह पाँच सूक्ष्म भूतों, ग्यारह इन्द्रियों पाँच प्राणों और अपने प्राचीन सारे कर्मों को संसार रूप से सदा धारण किये रहता है।

गिरति संसृजति क्षणशः स्वयं
सकलभोगचयं समयं श्रयत्।
मतिसमुद्भवहेतुसहायक-
म्प्रकृतितो नितरामितरत् स्वतः।।२५६।।

यह कर्माधीन अपने सारे शुभाशुभ भोगों और उनके साधनों को समय पूरा होने पर अपने में छिपा लेता और आगामी तथोक्त भोगों और उनके साधनों को यथासमय उत्पन्न भी कर लेता है। यह यद्यपि प्रकृति और उसके सारे विकारों से अत्यन्त विलक्षण है फिर भी प्राकृतिक भोग साधन मनसहित ज्ञानेन्द्रियों को शक्ति देता और सारे भोग प्राप्त करता रहता है।

सहजधीविषयः कथितैर्गुणै-
र्विशद्बोधपदम्मतिकारणम्।
हृदि गतं सकलोहितकारणं
सकलजन्तुषु सर्वफलाऽऽस्पदम्।।२५७।।

अनादि काल से सारे शरीरों में सदा रहने वाली, केवल अपने स्वरूप का अवगाहन करने वाली, अहम् (मैं) बुद्धि का यह विषय है, उक्त बीस गुणों के द्वारा यह विशद रूप से भी समझ में आता है। इस विशद बोध के बाद ही कर्म-ज्ञान और भक्ति का हेतु उच्चस्तरीय ज्ञान प्राप्त होता है जिससे कर्म आदि सफल होते हैं। यह सारे हृदयप्रदेशों में प्रकाश रूप से विराजमान रहता है, सारी चेष्टाओं का मूल प्रयत्न यही करता है। यह असंख्य प्रकारों के जन्मों में मिलने वाले सर्वविध शुभाशुभ फल प्राप्त करता रहता है।

इति विवेद विविक्त विशेषणैः
स्वमसमम्पुरुषः प्रकृतेर्द्धुतम्।
करुणया सहरेर्विगतस्पृहो
विशति तत्पदमूर्जित धीपदम्।।२५८।।

जो व्यक्ति प्रकृति से भेद करने वाले उक्त वीस विशेषणों से अपने को अप्राकृत रूप से स्पष्ट पहचान लेता है वह महान् पुण्यशील होने से भगवान् की विशेष कृपा का पात्र होता है, इससे वह शीघ्र ही लौकिक अर्थों के प्रति स्पृहा त्याग देता है और प्रभु के उस लोक में प्रवेश करता है जहाँ आत्मा

के धर्मभूत ज्ञान का सीमातीत विकास होता है।

विकास होता है।

विशेष–भगवद्गीता तेरहवें अध्याय के श्लोक १२ से १७ तक क्षेत्रज्ञ के जिन बीस विशेषों का उल्लेख है उनका ही कुछ विस्तार से वर्णन पिछले श्लोक २५० से २५७ तक किया गया है। उन्हें हम नित्यत्व १, भगवच्छेषत्व २ अपरिच्छिन्न,-ज्ञानस्वभावत्व ३, सदसद्विलक्षणत्व ४, सर्वत्र सकलेन्द्रिय कार्यक्षमत्व ५, इन्द्रिय-निरपेक्षविषयग्राहित्व ६, अनासक्तसर्वधारकत्व ७, गुणनिरपेक्षगुणभोक्तृत्व ८, बाह्यान्तरर्तित्व ६, चराचरत्व १०, अविज्ञेयत्व ११, अभिन्नत्व १२, भूतपोषकत्व १३, शारीर सृष्टिसंहारपरत्व १४, इन्द्रियप्रवर्तकत्व १५, अप्राकृतत्व १६, ज्ञानैकाकारत्व १७, ध्येयत्व १८, उपायवेद्यत्व १६, सकलहृत्प्रदेशवर्तित्व २० शब्दों से समझ सकते हैं। विशद बोध के लिए व्याख्यायें देखनी चाहिए।

इदमवेक्ष्यमजस्रसमाहितैः
प्रकृतिपूरुषभेदविचक्षणैः।
सफलकर्मसमर्पणतः श्रुतैः
सुजनतोऽमृततुल्यसमादरैः।।२५६।।

इस शुद्ध आत्मतत्त्व को कुछ लोग निरन्तर ध्यान से अपने आप में देखते हैं, दूसरे लोग प्रकृतिपुरुषभेदप्रतिपादक सांख्यशास्त्र से जानते हैं, कुछ लोग कर्मयोग से ही पापक्षय के बाद देख लेते हैं, अन्य लोग महापुरुषों से श्रद्धापूर्वक सुनसुन कर जान लेते हैं, वे श्रवण को मोक्षसाधन न मानकर श्रद्धावश मोक्ष ही मानते हैं।

विधिभिरेभिरपाप्तभिदामतिः
सततमेकतया स्वमवेक्षितुम्।
यतनवान् हरिणा करुणावता
त्वरितमुद्ध्रियतेऽत्र मता स्वता।।२६०।।

उक्त में से एक या अनेक उपायों से अपने शुद्धरूप में प्राकृत सारे भेदों की कल्पनायें जब मिट जाती हैं और सदा अपने को केवल एक चिन्मय रूप में देखने का सदा प्रयत्न करता रहता है तो दयावान् भगवान् उसका शीघ्र उद्धार कर देते हैं। उस पर भगवान् की विशेष आत्मीयता होती है।

विधिमुखेषु तृणादिषु वा स्थितो
न विकृतः स्थिररूप उदीरितः।

स्वमवगच्छति चैवमलम्पुमा–
नहतधीर्न पुनर्विषमम्ब्रजेत्।।२६१।।

यह चेतन तत्त्व पुण्यातिरेक से ब्रह्मा आदि देवताओं में हो सकता है या पुण्यनाश से घास आदि क्षुद्र जन्म भी पा सकता है, इसमें कोई विकार नहीं आता, जो ब्रह्मा बना है वह तिनका भी बन सकता है और जो तिनका बना है वह ब्रह्मा भी बन सकता है। ब्रह्मा से तिनका तक की दूरी बहुत लम्बी है किन्तु काल की लम्बाई उससे बहुत ही ज्यादा है, आत्मा नित्य है, कोई भी जन्म इसका बाकी नहीं होगा ऐसा समझना चाहिए। यदि किसी को अपने पूर्व जन्म का स्मरण रहता है तो उस पुराने घर परिवार पर आत्मीयता रखता है, ऐसे ही शास्त्रों से जन्म परम्परा समझते हुए महान् लोग प्रत्येक प्राणी को अपना रूप और अपनी जाती भी मानते हैं, कहीं उत्कर्ष या अपकर्ष का भाव नहीं रखते। वे भाव प्रकृति में होते हैं। जिनका ध्यान कभी प्रकृति पर जाता ही नहीं वे भेद क्यों देखें। इस प्रकार अभेद दृष्टि का अभ्यास होने से संसार बन्धन बहुत शिथिल होकर छूट जाता है।

प्रकृतिरेव करोत्यखिलाः क्रिया
युतिवशः पुरुषः फलमश्नुते।
स्वयमयं न करोति विजानता–
मिदमनादिभवः क्षयमाप्नुयात्।।२६२।।

शुभाशुभ सारे कर्म जड़ प्रकृति ही करती है, मन भी प्रकृति का परिणाम है। चेतन पुरुष प्रकृति के विकारों में अहंकार ममकार का सम्बन्ध होने से कर्मों के सारे फल भोगा करता है। जो लोग दृढ़ता से यह तथ्य जानते हैं कि पुरुष स्वयं कर्ता नहीं हो सकता उनका अनादि संसार धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है।

प्रकृतिमात्रगता अखिला भिदा
न तु पुमानपि केन च भिद्यते।
तदनुबन्ध्यखिलन्तु चयं क्षयं
समनुपश्यति स स्वमुपाश्नुते।।२६३।।

सारी भिन्नतायें केवल प्रकृति में होती हैं, उन प्राकृतिक भेदों से पुरुष भिन्न नहीं होता, वृद्धि ह्रास आदि गुणदोष केवल प्रकृति में होते हैं, इस तथ्य को जो नहीं भूलता वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

रविरिव प्रभयाऽखिलधारको
नभ इवाखिल संगविवर्जितः।
हरिरिवास्तसमस्तमनोरथ–
स्तनुभृदेष चिरान्मशकायते।।२६४।।

जैसे सूर्यनारायण अपने प्रकाश से सारे विश्व को धारण और पोषण करते हैं, वैसे यह क्षेत्रज्ञ चेतन अपने संकल्परूप ज्ञान से प्राप्त सभी शरीरों का धारण पोषण करता है। आकाश के समान यह असंग और निर्लेप है। भगवान् के समान ही वह भी स्वभाव से प्राकृत किसी अर्थ की स्पृहा नहीं करता। ऐसा महान् यह आत्मतत्त्व शरीरधारी होकर चिरकाल से मच्छड़ों जैसा तुच्छ अर्थ बना हुआ है।

यदिदमावपनं य उ वापकृत
तदुभयं द्विविधम्मति चक्षुषा।
सुकृतिनां सुधियामनुपश्यतां
धृतमणिप्रतिमं स्वमवाप्यते।।२६५।।

यह जो शरीररूपी क्षेत्र बतलाया गया और इस क्षेत्र में अपना कर्मबीज बोने वाला क्षेत्रज्ञ पुरुष बतलाया गया इन दोनों को अपने विशद ज्ञानरूपी नेत्रों से जो विवेकी देखते हैं, भूलते नहीं, उन्हें अपना स्वरूप कण्ठ में धारण किये हुए मणि के समान स्पष्ट रूप से उपलब्ध रहता है।

प्रथमम्प्रस्तुतं क्षेत्रात्पुम्भेदं सादरं हरिः।
समये विशदम्प्राह तदिहाक्ष्यब्धि (४२) पद्यगम्।।२६६।।

भगवान् ने अपने गीता उपदेश के आरम्भ में ही क्षेत्र से पुरुष का भेद प्रस्तुत किया था। उस भेदबोध को स्थिर करने के लिए प्रसंगानुसार आदरपूर्वक विस्तार से १३वें अध्याय में जो कहा वही अर्थ यहाँ ४२ श्लोकों में प्रस्तुत है।

तेरहवाँ अध्याय समाप्त

चतुर्दशाध्यायः

प्रतिगृहं जननीजठराच्छिशु–
र्भवति तद् भवभूतिनिदर्शनम्।
गुणमयी प्रकृतिर्जननस्थली
सकलजीवनिधिर्भगवान् पिता।।२६७।।

दृश्यमान यह अनन्त ब्रह्माण्ड कैसे उत्पन्न होता है ? वैसे ही जैसे घर-घर माता के गर्भ से बच्चा पैदा होता है। सत्त्व रज तम नामक तीन गुणों वाली, सांख्यदर्शनोक्त महत्तत्त्व आदि रूप धारण करने वाली प्रकृति उत्पत्ति स्थान (योनि) है और सारे जीवसमुदाय (बीज) के निधि और उन्हें गर्भ में स्थापित करने वाले पिता भगवान् हैं। लौकिक पिता और भगवान् में अन्तर यह है कि वे प्रत्येक बीज (चेतन पुरुष) की पहचान रखते हुए यथासमय उचित योनि में स्थापित करते हैं। जिस त्रिगुणात्मक शरीर का निर्माण माता के गर्भ में होता है उसका उपादान, तेरहवें अध्याय में वर्णित क्षेत्र, वास्तव योनि है और चेतनतत्त्व वास्तव बीज है। शुक्राणु उस बीज का आधारमात्र होता है जो शरीर के उपादानों का संग्रह करने का माध्यम होता है, वैसे ही माता की योनि शरीर के उपादानों के संश्लेष और विकास का केवल स्थान होती है।

शरीर के सारे स्थूल-सूक्ष्म उपादानों के संग्रह और संश्लेष का वास्तव माध्यम चेतन के वे प्राचीन कर्म होते हैं जो जीवनव्यापी समग्र फल परम्परा प्रस्तुत करने वाली लम्बी प्रारब्ध शृंखला की शुरुआती कड़ी बनते हैं। इस तथ्य को न समझने वाले लोग जन्म को यादृच्छिक (आकस्मिक) मानते हुए जल्दी-जल्दी रागद्वेष के वशीभूत होते और अपराध करते रहते है।।

स्वसमये प्रकृतिः क्षुभिता गुण––
नतुलितान् दधती परमात्मना।
मिलति सिद्धिमता जननेच्छुना
विशति गर्भमसौ तु विराड्वपुः।।२६८।।

सतत परिणामी विश्व के अणु अणु में सजातीय और विजातीय परिणाम होते रहते हैं। नव किसलय कठोर पत्र अवस्था तक सजातीय परिणाम प्राप्त करता है। वृक्ष अपने आप में सजातीय परिणामों से वृद्धि पाता है। ऋतु आने पर वही विजातीय परिणामों से पुष्प फलों के रूप में

भी विकसित होता है। ऐसे ही विश्व की मूलभूत प्रकृति प्रलयावस्था में सजातीय परिणामों के क्रम में रहती हुई सृष्टिकाल आने पर वही महत्तत्त्व अहंकार आदि विजातीय परिणाम प्राप्त करती है। समान पर्यंक पर अपने आप में सन्तुष्ट उम्पति के मानसपरिणाम क्रम में कभी काम का क्षोभ होता है और उनका परस्पर असाधारण मिलन होता है जिससे ऋतुकाल में स्त्री के गर्भ में शिशु आ जाता है। विश्व सृष्टि का क्रम भी ऐसा ही है।

लम्बे प्रलयकाल में चेतनों के कर्म प्रकृति के किसी सूक्ष्म भाव में रहते हुए सजातीय परिणाम की अवस्था में रहते हैं, वे ही सृष्टिकाल में फलदानोन्मुखता रूपी विजातीय परिणाम के द्वारा प्रकृति में भी महतत्त्व आदि विजातीय परिणामों के हेतु बन जाते हैं, यही प्रकृति का क्षोभ है। प्रकृति के इस क्षोभ से परम पुरुष में सृष्टि का संकल्प सफल हो जाता है, तब विराट् की सृष्टि होती है। इसी तथ्य को भगवान् ने गीता में ''तस्मिन् गर्भं दधामि'' कहा है। सृष्टिकाल में प्रकृति के सत्त्वादिगुणों में विषमता आ जाती है इससे वह परम पुरुष के लिए सृष्टि के उपयुक्त स्पृहा का विषय वैसे ही बन जाती है जैसे लौकिक पुरुषों में स्त्री के प्रति स्पृहा होती है। परमात्मा के अमोघ (सत्य) संकल्प से सृष्टि शुरु होती है। लोक में पुरुष ही सूक्ष्म रूप से स्त्री की योनि में प्रवेश करके सन्तान के रूप में प्रकट होता है ऐसे ही परमात्मा स्वयं अधिकारी चेतनों में अन्तर्यामीरूप से रहते हुए विराट् की सृष्टि के निमित्त बनते हैं। यही तथ्य इस श्लोक से समासोक्ति अलंकार के द्वारा सूचित है।

यदि न कर्म भवेद् भविनाम् पुरा
यदि न धीपरिमोष उपानमेत्।
न जननेऽपि पुनः शबलाश्ववत्
स्युरपराय भवाय रताः क्वचित्।।२६९।।

सृष्टि में चेतन को विषय अच्छे इसलिए लगते हैं कि उसके साथ उसके प्राचीन कर्म लगे होते हैं जो उसकी बुद्धि में ऐसा कुछ आवरण डाले रहते हैं जिससे निःसार तत्त्व भी अच्छे लगते हैं जैसे छोटा बच्चा काठ के लाल खिलौने पर मुग्ध रहता है ऐसे ही कर्माधीन चेतन निःस्सार विषयों में स्पृहा रखता है। यदि प्राचीन कर्मों के बन्धन न हों तो दक्ष प्रजापति की सन्तान हर्यश्वों और शवलाश्वों की भाँति या शुकमुनि की भाँति जन्म के बाद तुरन्त ही मोक्षमार्ग में चलकर मुक्त हो जायँ।

बहुलकर्ममया भगवद्दया–
समुपलब्धवपुःकरणा जनाः।
जनिमृतीरूपयान्ति पुनः पुनः
शुभपदाय न याति सितम्मनः।।२७०।।

जो लोग पिछले जन्मों के नाना सुख दुःखमय कर्मों से बन्धे होते हैं वे भगवान् की सामान्य कृपा से शरीर और इन्द्रियाँ पा कर भी बार–बार केवल जन्ममरण प्राप्त करते हैं। कर्मों से बन्धा उनका मन कल्याणमय अवस्था की ओर चल नहीं पाता।

पुरुषबन्धन हेतु गुणांस्त्रिधा
विविधरूपवती प्रकृतिः सदा।
बहति बन्धविधौ निभृतादरा
जयति सातु यतो भगवत्परा।।२७१।।

बड़ा घोड़ा तीन से कम रस्सियों से नहीं बन्धता। दो उसके पिछलै पैरों में अलग–अलग दिशाओं में बँधी होती हैं और एक गले में सामने के खूंटे से बँधी होती है। ऐसे बन्धन में होने पर ही सेवक उसे पूरे शरीर में मालिश दे पाते हैं। वह नाना प्रकार की सेवाओं से वशीभूत होने के कारण सेवकों के बन्धन का विरोध नहीं करता। ऐसे ही त्रिगुणमयी प्रकृति अन्नपानादि नाना रमणीय रूप धारण करती हुई पुरुष को वश में रखती हुई उसे बहुत ओर से बान्धे रखना उसका मुख्य लक्ष्य होता है, इसी के लिए वह तीन गुण धारण करती है। वह अपने कर्तव्य में कभी विफल नहीं होती, क्योंकि वह नित्य ही भगवान् की अपार शक्तियों के आश्रित रहती है।

प्रकृतकर्मफलानुगुणं गुणाः
परिणताः पुरुषान् प्रतिबन्धितान्।
विदधते बपुषा मनसा धिया
बिगममिच्छति दृग्विषयो हरेः।।२७२।।

सत्त्व आदि तीन गुण पुरुष के प्रारब्ध कर्मफलों के अनुरूप नाना परिणामग्रहण करके अपने भोगों के लिए पुरुष को शरीर मन और बुद्धि में बाँधे रहते हैं। यह बन्धन पुरुष को खलता नहीं, क्योंकि उसे अभीष्ट कर्मफल मिलते रहते हैं। किन्तु जिस महान् आत्मा पर भगवान् की विशेष कृपा होती है वह भोगों से विरत होकर बन्धनों से छूटने के प्रयत्न करता है।

यदि गुणानवगच्छति बन्धकान्
यदि समे मनुते च सुखासुखे।
स्वसमतांच न विस्मरति क्वचिद्
भवभयादचिरात्स विमुच्यते।।२७३।।

यदि पुरुष त्रिगुणों को उनके सारे परिणामों के सहित केवल बन्धन के कारण के रूप में स्वीकार करता है और सारे सुख-दुःखों को केवल वजनीय प्रकृतिजन्य होने से तुल्य मानता है एवं सभी लोकों में सभी योनियों में सभी अवस्थाओं में अपने स्वरूप के सदा अविकृत एकाकार रहने की बात नहीं भूलता वह संसार भय से शीघ्र ही छूट जाता है।

वसनभूषण धारण हानतो
न परिणाममुपैति पुमान् यथा।
त्रिगुणलक्षणकार्यवशात्तथा
न विकृतिं लभते मतिमान् यतिः।।२७४।।

पुरुष कभी वस्त्र और भूषण धारण करता है और कभी उतार देता है, कभी बदलता भी है किन्तु उन धारण त्याग और बदलाव से पुरुष में कोई परिणाम नहीं होता, वह ज्यों का त्यों रहता है, ऐसे ही प्राकृतिक सारे गुणमय परिणामों से चैतन्यमय पुरुष में कोई विकार न होने से विवेकशील मुमुक्षु (यति) अपने मन में कोई विकार नहीं आने देता।

प्रकृतिसंगकृता विपरीतधी-
र्न पुरुषं विजहात्यपि यत्नतः।
यदि न सर्वशुभाश्रयमीश्वरं
शरणमेत्य करोति तदर्चनम्।।२७५।।

फिर भी कोई योगी यति अपने विवेक का बल चाहे जितना लगाये किन्तु प्रकृति तो अपने संग से विपरीत ज्ञान यानी देहात्म बुद्धि उत्पन्न कर ही देती है, ऐसी स्थिति में मुमुक्षु को चाहिए कि (रोगी को दवा की तरह) सर्वशुभगुणाश्रय सर्वभूतसुहृद् परमात्मा की शरण में जाकर नित्य यथा शक्ति उनका अर्चन करता रहे। मन में उनका सन्निधान बना रहने से पापनाश होगा और विपरीत बुद्धि क्रम से क्षीण होगी और आगे नष्ट हो जायेगी तब मुक्ति होगी।

प्रकृतेः संगतः पुंसस्त्रिवर्गा मुक्तिरुत्तमा।
विवेकात्स्यादिति प्रोक्तं नवश्लोकैस्तदाहृतम्।।२७६।।

पुरुष को प्रकृति के संग से धर्म-अर्थ काम एवं विवेक से सायुज्य मोक्ष भी प्राप्त होता है, यह अर्थ चौदहवें अध्याय में भगवान् ने कहा है वही यहाँ नौ श्लोकों में संगृहीत है।

चौदहवाँ अध्याय समाप्त

अथ पंचदशोऽध्यायः

उपरि मूलमधः प्रतिशाखिका-
श्चलदलस्य दृढस्य जगत्तरोः।
प्रकृतिपूरुषसंयुतिजन्मिनो
गुणमयस्य सतोऽप्यसतः सताम्।।२७७।।

यह संसार एक मजबूत पिप्पल का वृक्ष है। इसका मूल ऊपर ब्रह्मलोक में ब्रह्मा आदि रूपों में स्थित है और इसकी छोटी बड़ी शाखायें भूलोकोदि निम्न लोकों में मनुष्य तिर्यग् आदि योनियों के संयोग से हुआ है, इसमें सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं, यह है तो सत्य ही किन्तु सन्त लोग इसे अस्थिर और मायामय होने से असत्य मानते हैं।

श्रुतिरहस्यमिमन्त्रिशुणन्तरुं
यदि विवेद स वेदविदुत्तमः।
इह सख्ययमनदिमवाप्नुते
सह सरन्तमरंचलपल्लवैः।।२७८।।

यद्यपि यह संसार प्रत्यक्ष है पर इसके उपादान और निमित्त कारण प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसके जो परिणाम होते हैं वे अज्ञात हैं, इसके सहकारी सत्त्व आदि गुण और चेतनों के कर्म भी सदा अदृष्ट है, इनका आपसी सम्बन्ध और अपेक्षित परिणाम प्राप्त करने और अवांछित से बचने के उपाय भी अज्ञात ही हैं। इन महत्त्वपूर्ण अर्थों का ज्ञान श्रुतियों से ही सम्भव है, वह भी सदाचार्य की कृपा से प्राप्त होता है। इससे यह संसार रूपी चल दल (पिप्पल) तरु श्रुतियों का रहस्यभूत अर्थ है। इसे जो समझ पाता है वही वेदज्ञों में श्रेष्ठ माना जाता है। इस संसार वृक्ष में भी अनादि काल से सदा साथ चलते हुए भिन्नभूत परमात्मा की प्राप्ति इसके चंचल पत्तों से, अर्थात् नाना संयोग वियोगों में रहने वाली किसी एक अचिन्त्य सुव्यवस्था से हो

जाती है। यह विषय सदाचार्यों और सन्तों की कृपा से समझ में आता है।

चलदलोऽयमलम्भगवत्पदात्
प्रतिनिवारयितुं सकलं जनम्।
न फलमस्य वभूव न सम्भव–
ज्जनयतेऽथ तथापि चिरात्स्पृहाम्।।२७९।।

यह पिप्पल सभी लोगों को भगवान् के चरणों से दूर रखने में समर्थ है। इसका कोई शुभ फल न हुआ है न हो रहा है फिर भी यह चिरकाल से फल की स्पृहा उत्पन्न करता रहता है।

श्रितवताम्बदपद्मयुगं हरे–
रगुणमस्तसमस्तगुणस्पृहाम्।
अरतिशस्त्रहतोक्तमहीरुहां
स्फुरति तत्पदमेशमनुत्तमम्।।२८०।।

जो लोग सुकृतविशेष से गुणमय समस्त विकारों के प्रति स्पृहा के नष्ट हो चुकने से अनासक्तिरूपी शस्त्र से उक्त संसार वृक्ष की जड़ काट चुके होते हैं, उससे अपने सम्बन्ध समाप्त कर चुके होते हैं और आत्मकल्याण के लिए श्रीमन्नारायण के त्रिगुणातीत चरणकमल युगल का आश्रय ले चुके होते हैं उन्हें ही उनका सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वोत्कृष्ट परम पद समझ में आता है।

न खलु तन रुजो न शुचो यतो
गतवतां न कुधीर्न पुनर्भवः।
गुरुपदस्पृहया श्रुतिशुद्धया
पदमदः प्रतिपद्य कृती भवेत्।।२८१।।

सुनते हैं कि वहाँ कोई पीड़ा नहीं, न कोई शोक होता है, वहाँ पहुँचे लोगों की बुद्धि दूषित (स्वरूपच्युत) नहीं होती जिससे दुवारा संसार मिले। वेदाध्ययन से शुद्ध गुरुभक्ति के होने से जब वह परमपद समझ में आ जाता है तब साधक कृतार्थ हो जाता है।

रविमुखार्चिरलब्धपदं स्वय–
म्प्रथयते त्रिजगत्सचराचरम्।
स्वमवयत सुमहत् त्रिगुणोद्गतं
जयति तद् भगवत्प्रतिमम्पदम्।।२८२।।

चेतन स्वरूप का वर्णन करते हैं कि उसे सूर्य चन्द्र अग्नि आदि बाहरी तेज प्रकाशित नहीं करते, वह स्वयं प्रकाशित रहता है, उसके प्रकाश से ही सूर्य आदि तेज भी प्रकाशित होते हैं, सारे विश्व को भी वही प्रकाशित करता है एवं जो स्वयं को समझ लेने पर त्रिगुण की सीमा से ऊपर जाकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो कर दुबारा संसार में नहीं आता, वह भगवान् के तुल्य उनकी ही आत्मीय वस्तु उनके महान् वैभव में सबसे उत्तम है।

भ्रमति यत्रिजगत्यदृढास्पदं
यदपि नित्यमनाप्तविपत्पदम्।
तदुभयं विभवः परमेशितु–
र्निजतयैव समुद्धरते हरिः।।२८३।।

जीव बद्ध मुक्त नित्य भेद से तीन प्रकार के होते हैं, यहाँ प्रथम दो को एक वर्ग में मानकर कहते हैं कि जो तीनों लोकों में अस्थिर ऊपर नीचे भटकता रहता है, जो मोक्ष का अधिकारी भी होता है वह संसार और जो कभी संसार में पड़ा ही नहीं वह नित्य जीव ये दोनों परमेश्वर के विभव हैं, उनकी आत्मीय वस्तु हैं, आत्मीय होने से ही भगवान् किसी अधिकारी को मुक्त करते हैं।

प्रकृतिजांशचयं सकलेन्द्रिया–
ण्यसुगणं च कृतान्यपि धारयन्।
जगति संचरतीश्वर ईश्वरा–
हितबलः समलोऽप्यति निर्मलः।।२८४।।

मूल प्रकृति के विकार इन्द्रियों प्राणों और प्रारब्ध संचित क्रियमाण कर्मों को सदा साथ लिए ईश्वर से शक्ति प्राप्त करके अपने जीवन पर नियन्त्रण करता हुआ जीव प्रकृति के संग से मलिन होता हुआ भी स्वभाव से अत्यन्त निर्मल है।

विशति निर्विशतीश्वर इन्द्रियै–
र्बपुरिदं विषयांश्च भुनक्ति यत्।
तदखिलं न विदुर्जऽजन्तवः
सुकृतिमान् मतिमांस्तु समीक्षते।।।२८५।।

इस शरीर में इन्द्रिय प्राणों के साथ चेतन तत्त्व प्रवेश करता है तब जन्म कहा जाता है। और जब इसे छोड़ देता है तब मरण कहा जाता है। जन्म से लोग प्रसन्न होते हैं और मरण से ममता वाले दुःखी होते हैं। किन्तु ज्ञानी लोग नित्य आत्मा के आगम निर्गम व विषय भोग रूप सहज स्वभाव

को ध्यान में रखते हुए केवल उसके आगम-निर्गम मात्र देखते हैं, शरीर को महत्त्व नहीं देते, वे शरीर में भी निराकार चेतन तत्त्व को ही मुख्यरूप से देखते हैं, इससे उन्हें सुख-दुःख नहीं होते।

यदि विवेद जनः स्वमथात्मनः
सममनावृतबोधमतः परम्।
प्रकृतितः पुरुषद्वितयात्परं
श्रुतिषु तच्छ्रयते पुरुषोत्तमम्।।२८६।।

यदि कोई व्यक्ति शास्त्रों द्वारा प्रकृति से विलक्षण अपने अतीन्द्रिय स्वरूप को सर्वत्र व्याप्त और सक्रिय समझने लगता है तो वैसे ही परमात्मा को भी जीवों की ही तरह अकेले सर्वत्र व्याप्त, सक्रिय, नित्य, निर्विकार, व्यापक शुद्ध ज्ञानमय एवं सभी त्रिविध चेतनों के नियामक के रूप में समझता हुआ श्रुतियों से उनके सम्बन्ध में विशद ज्ञान प्राप्त कर आत्मरक्षा के लिए उनकी शरणागति करता है। वेदान्ततत्त्वबोध के बिना वास्तव शरणागति नहीं होती।

श्रियवतो जगतोऽवति माधवः
श्रुतिरहस्यमिदं खलु साधवः।
विदुरतस्त्रिजगत्फलनिःस्पृहाः
श्रितवतांचरणेषु धृतस्पृहाः।।२८७।।

सत्पुरुष लोग वेदान्तों का यह रहस्य जानते हैं कि लक्ष्मीपति भगवान् नारायण विधिवत् शरणागतों की स्वरूप रक्षा और संसार से उद्धार करते हैं, इससे वे आत्मरक्षा और उवर पर ही रुचि और श्रद्धा होने से त्रिलोक में मिलने वाले अन्य छोटे बड़े फलों की स्पृहा त्याग करके केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करते हुए कृपा के विशेष पात्र पूर्व शरणागतों के चरणों पर विशेष स्पृहा रखते हैं, उनका ही अनुगमन करते हुए परम कृपा की प्रतीक्षा में जीवन व्यतीत करते हैं।

प्रथितास्त्रिविधा जीवा रक्षकः पुरुषोत्तमः।
श्रितानां, रुद्रपद्यै (११) स्तद दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।।२८८।।

बद्ध मुक्त नित्य भेद से जीव तीन प्रकार के प्रसिद्ध हैं, सबकी रक्षा भगवान् पुरुषोत्तम ही अपने नित्य संकल्प से करते हैं, शरणागतों की रक्षा वे मुक्ति पर्यन्त करते हैं, इस तथ्य पर यहाँ ग्यारह श्लोकों से प्रकाश डाला गया है कि अधिकारी जन सही माध्यमों से विस्तृत बोध प्राप्त करें।

पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त

अथ षोडशाध्यायः

अभयता मनसश्च विशुद्धता
सुमतिलाभविधौ स्थिरयत्नता।
वितरणम्मनइन्द्रियवारण-
म्भगवतो नियमेन समर्चनम्।।२८६।।

भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में दयामय भगवान् ने मानव में होने वाले उन २६ गुणों का उल्लेख किया है जिसके होने से वह आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होता है। देवत्वमय आत्मकल्याण का हेतु होने से उन्हें दैवी सम्पत् कहा है एवं विपरीत गुणों (दोषों) को भी बतलाया है जिनके द्वारा वह आत्मकल्याण के विपरीत चलता है। उन विपरीत गुणों को आसुरी सम्पत् कहा है और अन्त में सुझाव दिया है कि जीवन में अच्छे गुणों, दैवी सम्पदा का विकास करते हुए शास्त्रीय मर्यादाओं के अन्दर रहना चाहिए जिससे आत्मकल्याण सुलभ हो।

पहला गुण है अभय। जीवन में बहुत सी हानियाँ होती रहती हैं। कुछ लोग उन हानियों से अपनी रक्षा के लिए दुर्गुणों से लिपटते हुए बुरे लोगों की संगति करके आत्मविनाश का ही वरण कर लेते हैं। कुछ तात्कालिक हितलाभ देखकर भ्रमवश मिथ्या आत्मविनाश का भय होने से कुसंग का त्याग नहीं कर पाते और स्वयं अपना अहित करते रहते हैं। उन्हें भय के मारे धर्म का भरोसा नहीं होता, अधर्म से ही रक्षा की विपरीत कल्पना लिए रहते हैं।

सत्त्वप्रधान हृदय में सद्गुणों के प्रति श्रद्धा और धर्म से ही विश्व की रक्षा का भरोसा होता है, उसे ऐसा कोई भय नहीं होता जिससे दुर्गुणों का संग्रह करे। भय न होने से ही अगले २५ गुणों का विकास होता है। धर्म के भरोसे निडर रहना उत्तम जीवन की पहली आवश्यकता है। (१)

निडर व्यक्ति ही अगले गुण सत्त्व संशुद्धि का भागी होता है चित्त में जो घातक दोष प्रिय बने जकड़े होते हैं उनकी समीक्षा करते हुए सत्संग से उनका बारण करते रहने से ही अगले गुणों का संग्रह हो जाता है। (२)

जीवन का पहला लक्ष्य है अपने आपको समझना। समझ कर ही कल्याण मार्गपर चला जा सकता है। दुर्गुणों का वारण और सद्गुणों का विकास जारी रखने से ही अपना स्वरूप धीरे-धीरे समझ में आता है। समझ के आधार पर ही मनुष्य आत्मकल्याण के उपायों का उत्तरोत्तर अवलम्बन करता हुआ संसार बन्धनों से क्रमशः छूटता जाता है। इस प्रवृत्ति को ही भगवान् ने आत्मयोग व्यवस्थिति कहा है। (३)

दान-धन का उत्पादन बिना हिंसा के नहीं होता। उत्पादन के बाद उसका वितरण होता है। उत्पादन में कमी की स्थिति में वितरण कम ही हो पाता है। वितरण न हो पाना धन का संग्रह कहा जाता है। संगृहीत धन अपने से जुड़ी हिंसा का दुष्प्रभाव दिखलाता है। यह तथ्य ध्यान में न रहने से लोग संग्रह करते और संकट झेलते हुए सद्गुणों से वंचित रह जाते हैं। संगृहीत ममतास्पद धन को शीघ्र सत्पात्रों में देते रहने से मनुष्य बहुत से अनर्थों से बचता हुआ सद्गुण विकसित कर कल्याणमार्ग में आगे बढ़ सकता है। इससे संग्रह के विपरीत दान की प्रवृत्ति विकसित करनी चाहिए। वैश्य जाति का यह महान् धर्म शुरु से ही विश्व से ही विश्व की रक्षा कर रहा है। पूंजी बढ़ाने के धुन में संग्रहमय हिंसा के बढ़ने से पूर्व पुण्य के अभाव में संग्रही लूटमार का शिकार होता है। अपने बचाव के लिए प्रत्येक कल्याणकामी व्यक्ति को जीवन में दान की प्रवृत्ति विकसित करनी चाहिए। (४)

दम-भोगों की लिप्सा दान के विपरीत पापमय संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ाती है, इससे अनर्थ बढ़ते हैं। इससे मनुष्य को असंग्रही होते हुए सदा जितेन्द्रिय होना चाहिए। जितेन्द्रियता ही दम है। आज भौतिक उपकरणों की वृद्धि से भोगों की ओर प्रवृत्ति बढ़ गयी है। समाज में फैली नये प्रकार की हिंसा का यह मुख्य कारण है। भोगों की लालसा हिंसा बढ़ाता है। (५)

यज्ञ-प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण कर भोगेच्छा रोक देता है। इससे संसार बन्धन कट जाता है। सदाचार्य के निर्देशन में समर्पण की भावना बढ़ाते हुए कल्याण मार्ग में आगे बढ़ना चाहिए। इसके लिए भगवान् का नियमित पूजन बहुत कुछ सहायक होता है। पूजन ही यज्ञ है। (६)

श्रुतिमुखोत्तमशास्त्रसुवाचनं
तपसि धीरनिशं सरलात्मता।
हतिमृषोक्तिविवर्जनमक्रुधा
कृतिफलाप्तिधियामपवर्जनम्।।२६०।।

स्वाध्याय-पूजन के द्वारा व्यक्ति पूज्य के प्रति अध्ययन जनित अपनी भावना प्रदर्शित करता है। भावना ही पूजा की पूर्णता होती है। भगवान् को शास्त्रों से ही समझा जा सकता है, इससे दैनिक नियमित स्वाध्याय आवश्यक है। शास्त्रों से हम जितना जुड़ेंगे, आत्मकल्याण में उतना ही आगे बढ़ेंगे। इससे सुन्दर पाठपूर्वक सरस अर्थचिन्तन होना चाहिए। यही स्वाध्याय भगवान् ने चाहा है। (७)

तप-शास्त्रीय नियमों के पालन में कष्ट होते हैं। जाड़ों में प्रातः स्नान विशेष खलता है। समय पर स्नान कम ही लोग कर पाते हैं। कष्ट सहकर भी शरीर रक्षा पूर्वक नियमपालन होना चाहिए। यही यहाँ अपेक्षित तप है। (८)

आर्जव-सरलता महान् गुण है। सरल व्यक्ति बच्चों की तरह सबका प्यारा होता है। कृत्रिमता से दूर रहना सरलता है। महत्त्वाकांक्षा बड़ी कृत्रिमता है। इसका त्याग करके ही कोई सरल हो सकता है। चतुरता के साथ सरलता धर्म बन जाती है। वही यहाँ अपेक्षित आर्जव गुण है। (९)

अहिंसा-हिंसा से वहाँ तक बचा जाये जहाँ तक सम्भव हो। जैनियों से अहिंसा सीखी जा सकती है। मांस भक्षण के बिना भी शरीर बहुत वलवान् होता है। मांस से तमोगुण की वृद्धि होती है जिससे उद्यम में कमी आती और प्रमाद बढ़ता है। किसी भी जीव को मानसिक पीड़ा न पहुँचने देना सत्पुरुषों की अहिंसा है, वही यहाँ चाही गयी है। (१०)

सत्य-जहाँ तक हो सके झूठ न बोला जाये। हम ऐसी स्थिति से बचा करें जिसमें किसी रक्षा के लिए भी झूठ बोलना पड़े। हम अपनी वाणी में सत्यनारायण को प्रतिष्ठित करें। यह तभी सम्भव होगा जब सत्य समझ में आकर न भुला हो। ऐसा होने से चित्त शुद्ध होता है, सत्त्वगुण का विकास होता है और कल्याणमय तत्त्व स्फुरित होते हैं। सत्यनिष्ठा कल्याणपथ में प्रगति के लिए महान् सम्बल है। (११)

अक्रोध-काम जब वाधित होता है तब क्रोध का रूप ले लेता है। हम काम के चक्कर से दूर रहें तो क्रोध से बच सकते हैं। अक्रोध कोई स्वतन्त्र गुण नहीं होता है। क्रोध की परिस्थिति में क्रोध न करना या उठते हुए क्रोध को दबा लेना अक्रोध नहीं है, वह तो क्रोध का दमन होगा। काम का बना रहना क्रोध की भूमिका होता है। हम कोई कामना न होने दें, विवेक से काम लें, रमणीयता, उपयोगिता और उपादेयता की कल्पनाओं को हृदय में न

पनपने दें तो काम का अस्तित्व न होने से क्रोध नहीं होगा। महान् मनीषियों को यह अवस्था प्राप्त होती है। (१२)

विशेष-प्रश्न है कि काम के अभाव में भी क्रोध होता है। कोई गाली दे दे, कोई शारीरिक व्यावहारिक या आर्थिक क्षति पहुँचा दे तो क्रोध होता है, रक्त चाप बढ़ने से क्रोध होता है। ये क्रोध कैसे रुक सकते हैं। ज्वर सिर दर्द या चोट की पीड़ा के समय अच्छी बात भी खलती है, क्रोध होता है, वह कैसे रुकेगा। उस स्थिति में उसे दवाने का प्रयत्न ही सम्भव है।

उत्तर है कि हमें उत्तम जीवन पाने के लिए अपनी कल्पनाओं में भी सुधार करना होगा। गाली से महत्त्वाकांक्षा, यानी समाज में अपना कोई ऊँचा स्तर मानना और चाहना, की क्षति होती है। महत्त्वाकांक्षा पुरानी भूल है, उसे छोड़ना चाहिए। शारीरिक चोट आदि से पीड़ा होती है, किन्तु पीड़ादायक पर बहुत बार, क्रोध नहीं होता, वहाँ कुछ अच्छाई की कल्पना होती है, व्यावहारिक क्षति से पीड़ा होती है, वहाँ भी कभी-कभी क्रोध नहीं होता, विवेक विजयी रहता है, कुछ शुभ सूझ जाता है। आर्थिक क्षति से भी पीड़ा के बाद कई बार क्रोध नहीं होता, वहाँ भी कोई हित समझ में आ जाता है। क्रोध तभी होता है जब घटनाओं का कोई शुभ परिणाम समझ में नहीं आता। हमें प्रत्येक घटना से किसी अच्छाई का ध्यान रहना चाहिए। कष्टों से पाप नाश होता ही है, पापनाश चाहा जाता है। प्रत्येक शुभ-अशुभ घटना के पीछे पिछला पुण्य और पाप मुख्य कारण होता है, प्रत्यक्ष कारण गौण होता है, वह तो अदृष्ट अपने पिछले कर्मों का एक माध्यम मात्र होता है, इस तथ्य का ध्यान रखना और शान्त ही रहना विवेक का विजय है, क्रोध को रोक लेना अपने को सम्हालना है। हम पहले से ही विवेक कायम रखें तो क्रोध नहीं होगा। विवेक के अभाव में प्रमाद बना रहता है, अपने साथ लगे अपने अदृष्ट, प्राचीन कर्मों का ध्यान नहीं होता, तभी क्रोध होता है, अपराध बढ़ते हैं, संसार बढ़ता है। संसार से निकलने का इच्छुक व्यक्ति कभी क्रोध नहीं करता।

त्याग-दान पहले बतलाया गया है। त्याग का माने है शुभ कर्मों के फलों की कल्पना और इच्छा का त्याग। कामनायें सभी अनर्थों की जड़ें हैं, उनसे बचते हुए शुभकर्म केवल भगवत्सेवारूप से ही करने चाहिए। भागवत में आया है-तत्कर्म हरितोषंयत्, सा विद्या या विवमुक्तये। (कर्म वही कहा जा है जिससे भगवान् को सन्तुष्ट हो, विद्या वही कही जाती है जिससे संसार छूटे) उक्त निष्कामता ही यहाँ त्याग गुण है। (१३)

प्रशमिता परदूषणवर्जनं
सदयता विषयस्मृतिवर्जनम्।
जऽजगर्वविवर्जितवृत्तिता
कुफलकर्मविचार विदूरता।।२६१।।

शान्ति-इच्छायें मनुष्य को कहीं की नहीं रहने देतीं। परिस्थितियाँ नयी-नयी आवश्यकताएँ लाती हैं, तब इच्छायें नहीं होती है। जाड़े से धूप की और धून से छाया की आवश्यकता स्वाभाविक है, शरीर की मांग है। भूख पर भोजन, तृप्ति पर आराम, आराम पर सेवा, सेवा पर काम, काम पर उपराम, उस परविरति का क्रम सर्वविदित है। किसी शत्रु को दण्ड देने की इच्छा होती है, तब अवैध उपाय, तब कुसंग, तब अर्थनाश, तब विवाद या नया अवैध उद्यम का क्रम भी सर्वविदित है। ऐसा न हो, हम एक शास्त्रीय आदर्श जीवनक्रम अपना लें और उस पर आने वाले विघ्नों से विचलित न हों, न नयी आवश्यकतायें बटोरें, चित्त में इच्छाओं की तरंगें न उठें, यह ध्यान रहे, यही शान्ति है जो एक महान् गुण है। इसी गुण को पाने के लिए वानप्रस्थी जाड़ों की रात में पानी में और जेठ की दोपहरी में पंचाग्नि के बीच रहता हुआ यह माना करता है कि परिस्थितियाँ चाहे जितना बदलें, मैं नहीं बदलता, अपने वास्तव लक्ष्य पर ही टिका रहता हूँ। ऐसी मनःस्थिति बनने पर वह ब्रह्मविद्या के सहारे परमकल्याण का मनन चिन्तन करता हुआ संन्यासमय जीवन व्यतीत करता है। (१४)

परदूषणवर्जन-शान्ति कायम रहे इसके लिए परदोषों का उल्लेख न किया जाये, उन पर ध्यान ही न दिया जाये। दोष दृष्टि अशान्ति लाती है। गम्भीर स्वभाव वालों में यह गुण स्वयं होता है, दूसरों को प्रयत्न से मिलता है। (१५)

भूतदया-परमार्थमय के पथिक अपने हृदय में हिंसा भाव के स्थान पर प्राणिमात्र दयाभाव विकसित करते हैं, इससे दोष दृष्टि दबती है और निन्दा नहीं हो पाती। बड़े प्राणी भी दया के ही पात्र हैं। वे भी अपनी भीतरी और बाहरी परिस्थितियों से दबे होने से आदर्श कर्तव्य नहीं निभा पाते। उन पर हमारा क्रोध विफल होगा, दया के भाव से हम स्वयं सुखी रहेंगे। दयावान् व्यक्ति ही किसी की विवशता पर ध्यान दे पाता है। कोई धनवान् यदि कृपण है तो वह धन का दोष होता है न कि उस व्यक्ति का। धन अपने संस्कार से अगले उपभोक्ताओं को मिलने के लिए वर्तमान स्वामी की उदारता को

कुण्ठित रखता है। कृपण भले अपने को स्वतन्त्र मानता हो पर वास्तव में वह हाथ समेटे रहने के लिए विवश रहता है। इसी तरह गाय खाने वाला बाघ दया का पात्र है, अपनी मानसिक बनाबट से वह गाय को ही आहार मानता है, वह उसका जातीय दोष है, उस चेतन व्यक्ति का नहीं। नृशंस मनुष्यों के बारे भी ऐसा ही सोचना उचित है। सामाजिक सारी शुभाशुभ घटनायें ऊपर वाले के संकल्प के ही तहत होती हैं, कहीं कोई अव्यवस्था नहीं है। फिर भी हमारे कर्तव्य बनते हैं, सो हम बिना राग-द्वेष के ही अपने कर्तव्य निभायें। आतंकी का वध भी हम उस पर दया रखते हुए ही करें। भगवान् राम ने अपने घोर अपराधी रावण का वध दयापूर्वक ही किया था। वाल्मीकीय रामायण के युद्ध-प्रकरण से ऐसा ही समझ में आता है। स्थायीभाव उत्साह बीररस के साथ दया का भाव भी सुरक्षित रखता है जब कि असंयम से आये क्रोध की स्थिति में दया नष्ट हो जाती है। हम तत्त्व निष्ठा के बल पर काम क्रोध पर विजयी रहें और दया देवी को अपने हृदय में ऊँचा स्थान दिये रहें। ऐसा किये बिना हम अध्यात्म मार्ग में प्रगति नहीं कर सकते। (१६)

विषयस्मृति वर्जन-इसे गीता में अलोलुपता कहा गया है। हमें जो अच्छा लगता है उसे याद रखते और तलाशते भी हैं। विषयों में कोई अच्छाई नहीं है फिर भी वे तम्बाकू की तरह अच्छे लगते और चाहे भी जाते हैं। मोह ग्रस्त चित्त निःसार विषयों का चक्कर लगाता रहता है इससे कल्याणमय विषयों का अध्ययन नहीं हो पाता और जीवन विफल रह जाता है। गीता में विषयों को आहार कहा गया है। अविवेकी चित्त व्यर्थ विषयों का भी बच्चों की तरह खिलोने जैसे अर्थों का आहरण करता रहता है इससे आहाार शब्द उपयुक्त है। विवेक ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों आहरण घटता है। यही अलोलुपता है, ध्यान देते रहने से यह गुण बढ़ता है। (१७)

जड़तगर्बविवर्जितवृत्तिता-जड़पदार्थों से होने वाले गर्व की स्थिति चित्तवृत्ति में न होना शीलवानों में देखा जाता है। गीता में इसे मार्दव है। गर्व से बड़ों का अपमान होता है, उत्तम गुणों की उपेक्षा होती है और जीवन एकांगी जैसा रह जाता है, कल्याणमार्ग बन्द हो जाता है इससे गर्व तथा क्रोध से बचते हुए चित्त में मार्दव गुण विकसित करना चाहिए। (१८)

कुफलकर्म विचार विदूरता-जिन कर्मों का बुरा फल होता है, सामर्थ्य रहते भी उनके करने का साहस न जुटा पाना लज्जा कहा जाता है। शीलवानों में यह होता है। हम शील से लज्जावान् बनें यह श्रद्धा होनी चाहिए। (१६।।

विषयसन्निधितोऽप्यचलात्मता
खलपराभवहेत्वगुणाल्पता।
असुखकारिषु चाप्यविकारिता
सततत्त्वविवेकधृतात्मता।।२६२।।

विषयों के सन्निधान में भी शान्ति-अज्ञान की उभरी वासनायें पास के विषयों में आकर्षण बढ़ा कर स्वरूपविरुद्ध कर्म कराती हैं। संसार अवस्था में कुछ वासनायें रहती है, ऐसी स्थिति में विषयों की सन्निधि में भी अपना सीमित भी विवेक सम्हाले रहना और सामान्य रूप से ज्ञात विषय दोषों के चिन्तन से चित्त को उनकी ओर न झुकने देना स्थिरता है, यही गीता का अचापल नामक गुण है। (२०)

खलपराभवहेत्वगुणाल्पता-नीच प्रकृति के लोग ईर्ष्यावश महान् लोगों का अपमान करने के लिए उनमें सही गलत बुराईयाँ ढूँढ़ते रहते हैं। कुछ दुर्गुण पाकर ही खल कुछ अनिष्ट कर पाते हैं। अपने में दुर्गुण न हों और खल कोई कल्पना भी न कर सकें यह ध्यान में रखा जाये और शीलमय सच्चरित्र का एक प्रभाव बना रहे तो संसार में अनर्थों से बचाव होता है। यही महान् गुण तेज कहा जाता है। इसका संरक्षण करने वाले ही लोक-परलोक में सफल होते हैं। (२१)

कष्ट पहुँचाने वालों पर भी विकृत न होना-यह क्षमा गुण है, इसी से तेज की प्रतिष्ठा होती है। तेजस्वी व्यक्ति शीघ्र कुपित होकर तीव्र दण्ड दे सकता है, ऐसा न हो इससे देर तक क्षमा बनी रहनी चाहिए। प्रतिक्रिया से तेज का क्षय न हो इससे क्षमागुण की आवश्यकता होती है। (२२)

सतत तत्त्वविवेक निष्ठा-संकट के समय में भी विवेक बना रहे और समुचित कर्तव्य का निर्णय हो यही धृति है, दैवी सम्पत्ति का यह मुख्य लक्षण है। (२३)

शुचि मनोऽन्यजनेष्वजयेप्सुता
शुभजनेष्ववधीरणवर्जनम्।
इति समस्तसुखागमहेतवो
भगवदावसथोज्ज्वलकेतवः।।२६३।।

पवित्र मन-आर्थिक, कायिक, वाचिक, मानसिक शुद्धियाँ चित्त-शुद्धि में

सहायक होती हैं। चित्त-शुद्धि एक कठिन तपस्या है, इससे प्राचीन पाप नष्ट होते हैं, तत्त्व निष्ठा बनी रहती है और प्रारब्ध पापों के फल भी कम होते हैं। (२४)

दूसरों को दबाने की प्रवृत्ति का अभाव-दर्प से दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने की इच्छा होती है, इससे उनके गुणों की अनदेखी होती है, यह पापमय मानसिक हिंसा है, इससे दूसरों में प्रतिहिंसा का घातक भाव बनता है। इस दोष का न होना समाज हित में महान् गुण है जो सात्त्विक पुरुषों में होते हैं। गीता में इसे अद्रोह कहा गया है। (२५)

श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति नम्रता-मनुष्य में मान नामक एक दोष होता है जिससे वह दूसरों की अच्छाई स्वीकार नहीं करता, बल्कि आदर के बदले अपमान करता है, इस दोष के बढ़ने से अपराध बढ़ते हैं। इस दोष का बिल्कुल न होना भी एक महान् गुण है, इससे मनुष्य स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को भी सुख पहुँचाता है। (२६)

ये छब्बीस गुण ऐसे हैं कि इनके बिना लौकिक-अलौकिक छोटा-बड़ा कोई सुख नहीं हो पाता। भक्तों के हृदय में ध्यान के लिए भगवान् का निवास होता है, ये गुण उस निवास स्थान पर लगे चमकते ध्वज होते हैं।

भगवदाश्रयिणां सुधियां गुणा
इम उदार विचारबताम्मताः।
अथ विरुद्धधियामहितात्मना-
म्प्रकृतिदुर्गुणजातमुदीर्यते।।२६४।।

असंकीर्ण भावना वाले महापुरुषों में ही ये गुण होते हैं। इन गुणों के होने से ही कोई चेतन आत्मरक्षा के लिए भगवान् का आश्रय ग्रहण करता है। अब अज्ञानवश अपने और पराये अहित में ही लगे रहने वाले (तामस प्रकृति के) लोगों के स्वाभाविक दुर्गुणसमूह बतलाते हैं।

कपटदर्परुषा अतिमानिता
परुषता अमतिश्च समासतः।
भुवननाशविचारभृतामिमे
निगदिता अगुणास्तमऊर्जिताः।।२६५।।

वेदादि शास्त्रों के अनुसार परमात्मा सत्त्व आदि गुणों के सहारे ब्रह्मा 'विष्णु' रुद्र इन तीन रूपों में विभक्त होकर सर्जन सुरक्षा और विनाश करते हैं। मानव समाज या प्राणि समूह भी इन्हीं तीन रूपों में बटा देखा जाता है। यहाँ तमोमयी आसुरी सम्पत्ति के लोगों का परिचय दिया जा रहा है। ये लोग सदा विनाश सोचते हैं। उनमें बढ़ा हुआ तमोगुण सदा विध्वंसात्मक गुणों को बढ़ावा देता है। संक्षेप में वे गुण दम्भ दर्प अतिमान क्रोध क्रूरता और अज्ञान नाम से जाने जाते हैं।

दम्भ-अपने को स्वाभाविकता के विपरीत सदा कुछ कृत्रिम रूप में ही देखना और प्रदर्शित करना दम्भ कहा जाता है।

दर्प-कुछ कल्पित या सही उपलब्धियों पर अधिक प्रसन्न रहते हुए दूसरों को नीचा देखना दर्प कहा जाता है।

अतिमान-अपने को अपनी विद्या सदाचार और वंश के स्तर से कुछ अधिक ही समझते रहना अतिमान कहा जाता है। क्रोध-दूसरों को क्षति पहुँचाने वाला चित्त विकार क्रोध कहा जाता है। पारुष्य-क्रोध जब वाणी और शरीर में हिंसात्मक प्रवृत्ति लाता है तब पारुष्य या क्रूरता कहा जाता है।

अज्ञान-कृत्रिमता में रुचि होने से तमोगुणी लोग ज्ञान के बजाय अज्ञान में जीना ज्यादा पसन्द करते हैं। वे ऐसी मनःस्थिति बनाये रखते हैं जिससे तत्त्वबोध न हो पाये। अज्ञान इनकी सब से बड़ी पूंजी होती है।

किमपि सूक्ष्मतया न विचारयेत्
कुटिलधीः कपटैकपरो नरः।
जगदिदं स यथानुभवम्परं
गणयतेऽगणितात्मविचारणः।।२६६।।

पहचान के लिए आसुरी प्रवृत्तियों का वर्णन करते हैं कि दम्भपरायण व्यक्ति अपने दम्भ के बिखरने के भय से किसी तथ्य पर सूक्ष्म विचार करने से कतराता है, वह स्थूल दृष्टि से जगत् को जैसा देख पाता है वैसा ही मानता हुआ आत्मतत्त्व तक चिन्तन नहीं करता।

स रजसाऽनवसानमनोरथान्
बहति वांछति सर्वरिपुक्षयम्।
स्वयममर्त्यमिवावधिवर्जित-
म्भवति कामसुखाय जिजीविषुः।।२६७।।

रजोगुण की अधिकता से उसके बढ़े हुए मनोरथ कभी पूरे नहीं होते। वह अपने सभी शत्रुओं का नाश चाहता है, वह देवताओं की भाँति चिरकाल तक कामसुखों के लिए जीना चाहता है।

स विनिहन्त्यशुभानिव सज्जनान्
कलयते कुमतीन् भगवज्जनान्।
हरिमशेषजनेष्वनिशं स्थितं
न मनुते तनुते रिपुताम्पराम्।।२९८।।

वह सज्जनों को दुर्जन मानता हुआ मारता रहता है। भगवान् के भक्तों को बुद्धिहीन मानता है, वह कभी भी परमात्मा को प्राणिमात्र में अवस्थित नहीं मानता और सर्वत्र अपना बैर बढ़ाता रहता है।

भगवताऽपि शुभाशुभसेतुना
कुटिलधीकृतिहेतुफलान्वयम्।
विदधता क्रमशो विनिपात्यते
कुमति हेतु भवे कुधियां गणः।।२९९।।

भगवान् भी जो कि शुभ और अशुभ कर्मफल सम्बन्धों के विभाजन और नियमन करने वाले सेतु (पुल) हैं, उक्त आसुर प्रकृति के लोगों को कुटिल चिन्तन ओर कर्मो के फल देते हुए उनकी दुर्मति प्रियता के अनुसार ऐसे हर स्थानों में गिराते रहते हैं जहाँ उन्हें दुर्मति ही मिलती है, वे अपने अशुभ संसार से स्वयं को निकालने का कोई उपाय नहीं कर पाते।

निरयतुल्यभवाय भवे भवे
कुमतयः कुकृतीः किल कुर्वते।
अनुपलब्धसमुद्धृतिसत्पथाः
प्रपतनात्पतनान्यनुयान्त्यलम्।।३००।।

उक्त बात ही दुहराते हैं कि दुर्बुद्धि लोग सभी जन्मों में अपराध ही करते हैं जिससे उन्हें नरक तुल्य जगत् में साथी अपराधी ही मिलते हैं, इससे आत्मकल्याण का मार्ग उन्हें नहीं सूझता और उत्तरोत्तर घोर अपराधमय अधोगति ही पाते हैं।

विशेष–आज के विश्वव्यापी अपराधी संगठनों का जीवन उक्त अधोगतियों का अच्छा निर्दर्शन है।

विषयकामरुषाप्रतिमुग्धता
निरयमार्गतपाऽवधृता बुधैः।
त्रितयमेतदलम्परिवर्जयन्
प्रसहतेऽभ्युदयाय च मुक्तये।।३०१।।

सभी दुर्गुणों के बढ़ने में मूलकारण होते हैं काम क्रोध और लोभ, इन तीतो से अपना बचाव रखने वाले व्यक्ति सब तरह के लौकिक अभ्युदय और मोक्ष भी प्राप्त करने में सक्षम होते हैं।

जगति वा परलोकपथेऽपि वा
यदि च मोक्षपथे सुगतिस्पृहा।
भवतत शीलितशास्त्ररसाः पुन–
र्भवत शास्त्रवशाश्च विचक्षणाः।।३०२।।

अतः हे विवेकीजनो ! यदि आपको संसार में, परलोकमार्ग में या मोक्षमार्ग में भी उत्तम प्रगति की इच्छा हो तो शास्त्रों के तात्पर्यो को हृदयंगम करते हुए शास्त्रीय मार्ग पर ही चलो, शास्त्रों के ही वश में होने से आप भगवान् के ही वश में, अतः उनके स्नेहभाजन बनोगे, तब सब कुछ मिलेगा।

दैवासुरविभागोऽयम्भक्तिसत्पथशुद्धये।
दर्शितो हरिणा सोऽत्र श्रुतिन्दु (१४) श्लोकमन्त्रितः।।३०३।।

भगवान् ने गीता में भक्ति का कल्याणमय मार्ग स्पष्ट करने के लिए यह दैवासुर सम्पत्ति का विभाग जो दर्शाया है वही यहाँ चौदह श्लोकों में संगृहीत है।

सोलहवाँ अध्याय समाप्त

अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्रुतिगतं श्रुतितत्त्वधिया कृत–
म्भवति कर्म शुभाय समृद्धये।
अविहितन्त्वध वा मतिवर्जित–
न्तदसदेव न देवगतम्मतम्।।३०४।।

सत्कर्म और असत्कर्म के भेद बतलाते हैं कि जो वेदों में वर्णित हो, जिसमें वेदों का मुख्य तात्पर्य समझा गया हो वह कर्म विधिपूर्वक करने से शुभ फल और संकल्पानुरूप कल्याणमय समृद्धि देता है, वही सत्कर्म कहा जाता है और जो वेद विहित न हो या जो द्रव्य देवता विधि और फल समझे बिना किया गया हो वह देवता तक न पहुँचने से सफल नहीं होता इससे वह असत् कहा जाता है।

विशेष-शुभ अशुभ कर्मफलों का लाभ संकल्प के अधीन होता है, यह सामान्य नियम है। कोई न्यायाधिकरण भी अपराधों पर जो दण्ड का विधान करता है वह कर्ता के संकल्प की समीक्षा करके ही करता है। संकल्प में देश काल कर्ता द्रव्य देवता और उद्देश्य इन छः अंगों के सहित विधि का उल्लेख होता है। शास्त्रोक्त कर्म में शास्त्रोक्त द्रव्य जुटाये जाते हैं। शास्त्रोंक्त देवता का बोधपूर्वक ध्यान किया जाता है और कर्ता विधि के साथ अपना उद्देश्य जोड़ता है। वह कहता है कि मैं अमुक नाम गोत्र वाला, अमुक फल के लिए यह कर्म अमुकविधि से स्वयं या माध्यम द्वारा कर रहा हूँ। सहित विधि की पूर्ति होने से कर्मफल उपयुक्त समय पर संकल्पानुरूप ही मिल जाता है। संकल्प की त्रुटियों के अनुपात के अधीन फल की कमी का अनुपात शून्य पर्यन्त हो जाता है। लौकिक अपराधों में द्रव्य के स्थान पर, अपराध की सामग्री का, देवता के स्थान पर पीड़ित पक्ष का, पक्षविपक्ष के बयानों से कर्ता के उद्देश्य का एवं साक्ष्यों के आधार पर विधि (अपराध के स्तर) का चिन्तन होता है। सर्वांगपूर्ण अपराध पर दण्ड संहिता का पूरा दण्ड देय होता है एवं वही दण्ड अंगों की तथा विधि की त्रुटियों के अनुपात से न्यूनता क्रम से शून्य तक रह जाता है।

इस सामान्य नियम के अनुसार प्रकृत श्लोक से यह सूचित है कि कर्ता अपने सहित अंगों का और विधि का अध्ययन जितना ही कम करता है उसका फल भी उतना ही अधूरा या शून्य होने से असत् होता है। असत् कर्मों का फल असत् हो यह स्वाभाविक है। फल की पूर्णता अनुष्ठान पर्यवसायी चिन्तन की पूर्णता पर ही निर्भर होती है।

जगति सात्त्विकराजसतामसा
बहुविधा अनुपातवशाज्जनाः।
अशनदानतपोयजनादिका
बहुविधा गुणतः प्रथिताः क्रियाः।।३०५।।

यह संसार त्रिगुणमय है, तीनों गुण मिले रहते हैं, उनका अनुपात घटता-बढ़ता है, बढ़े हुए गुण का ही कार्य देखने में आता है इससे उसी का उल्लेख होता है। बढ़े हुए अपने गुण से ही उसके आन्तरिक अनुताप के तारतम्य से असंख्य प्रकार के मनुष्य, उनके आहार, उनके यज्ञ, दान, तप आदि कर्म हो जाते हैं।

प्रचुरसत्त्ववशा श्रुतिशास्त्रधी-
स्तदनुगा च रतिः सुकृते नृणाम्।

अविशदा च जघन्यगुणा मति-
र्न च रतिः सुदृढा सुकृते ततः।।३०६।।

बढ़े हुए सत्त्वगुण के अधीन श्रुतियों और शास्त्रों का ज्ञान होता है और उसके अनुरूप ही सत्कर्मों में अनुराग होता है। रजोगुणतमोगुणप्रधान लोगों को वैसा स्पष्ट बोध नहीं होता और न सत्कर्मों में वैसा अनुराग ही हो पाता। इससे सत्कर्मों में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती और यदि होती भी है तो ज्ञान की कमी से उनके कर्म अधूरे ही रह जाते हैं, उनका फल नगण्य होता है।

भवतु सत्त्वमयं हृदयं सतः
स्वमतिनष्टसमस्तफलस्पृहा।
अथ च कर्म मुदैव विधीयता-
न्भगवते तत एव विमुच्यते।।३०७।।

सत्पुरुषों को अपना हृदय सत्त्वप्रधान बजाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। वे अपने स्वरूप को ठीक समझ चुके होते हैं इससे वे जानते हैं कि किसी भी लोक का कोई भी भोग अपने अनुरूप नहीं है, इससे उन्हें कर्मफलों की स्पृहा होती ही नहीं। तब वे भी शास्त्रीय कर्म करते हैं वह सब केवल भगवान् की नैसर्गिक सन्तुष्टि के निमित्त करते हैं। निष्काम भगवदर्थ कर्म भक्तिरूप होने से मोक्ष का सन्निहित कारण माना जाता है।

अपरिमेयगुणम्प्रियमीश्वरं
स्तुतवती श्रुतिरोमिति संज्ञया।
अथ नुवन्त्यधुनाऽप्यखिला गिरः
परमलम्मनुते प्रणवं हरिः।।३०८।।

अनन्त गुणों वाले अतिशय प्रिय परमात्मा को भगवती श्रुति ओम् नाम से पुकारती और उनकी स्तुति भी करती है। यों तो सारे वेदादि शास्त्र परमात्मा की स्तुति आज भी कर रहे हैं किन्तु श्रुति की उस प्रथम वाणी प्रणव को भगवान् विशेष अर्थपूर्ण मानते और आदर देते हैं।

तदिति वक्ति यदा सुविविक्तधी-
र्भगवतः पुरतः स्फुरिताधरः।
तुलसिकादलमर्पयते हृदा
भवति मुक्तिमतां स पुरस्सर।।३०९।।

''तत्'' यह एक ऐसा शब्द है जो किसी भी शुभ कर्म का शुभत्व बढ़ा देता है। तत्त्वत्रयसम्बन्धी यथार्थ बोधपूर्वक इस पद का स्पष्ट उच्चारण भगवान् के समक्ष करता हुआ यदि कोई उन्हें तुलसीदल समर्पित करता है तो वह इस पद के द्वारा भक्ति ज्ञान कर्मों की पुष्टि हो जाने से मोक्ष भागियों में अग्रसर हो जाता है।

अध्याये सप्तदशके येऽर्था मुख्यतया धृताः।
रस (६) पद्यगतास्तेऽत्र कुर्युः सद्रससन्ततिम्।।३१०।।

भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में जो अर्थ मुख्य समझे गये उन्हें ही यहाँ छः श्लोकों में संगृहीत किया गया है। ये अर्थ सत्कर्मों में अनुराग बड़ायेंगे।

सत्रहवाँ अध्याय समाप्त

अथाष्टादशोऽध्यायः

किमपि कुर्वत एव हि जीवनं
विहितकर्मपरस्य सुजीवनम्।
न खलु विघ्नभयान्न च दुःखतः-
स्त्यजति कर्म शुभं सुकृती जनः।।३११।।

जो कुछ क्रिया करता रहता है उसी का जीवन माना जाता है। किन्तु जो शास्त्रोक्त कर्म करता है उसका जीवन उत्तम माना जाता है। पुण्यशील पुरुष किसी विघ्न के भय से या दुःख के भी भय से शुभ कर्म का त्याग नहीं करता।

विहितकर्मरतान् हरिरादरा-
दुदयवर्त्मनि वर्तयते स्वयम्।
य इह केचन निष्क्रियजीवना
विफलमेव जनुर्गमयन्त्यहा।।३१२।।

जो लोग विहित कर्मों में अनुराग रखते हैं उन्हें भगवान् अभ्युदय के मार्ग में स्वयं जोड़े रहते हैं। उनके प्रति उनका विशेष पक्षपात रहता है। खेद है कि इस तथ्य को न जानते हुए जो लोग निष्क्रिय रह जाते हैं, शास्त्र ज्ञान और अनुष्ठान पर ध्यान नहीं दे पाते वे अपना जीवन निष्फल ही गवाँ देते हैं।

वहव एव हि कर्मसु भी तितो
भगवतैक्यमशास्त्रपथाऽऽश्रिताः।
क्वचन संयमयत्नपराहठाद्
विषयकल्पनयैव विनिर्जिताः।।३१३।।

संसार में बहुत से लोग कर्मों के दायित्व से डर कर परमात्मा से अपनी ऐसी एकता मानकर किसी धुंधले विषय पर धारणा, ध्यान, समाधि में लगे रहते हैं जो शास्त्रसम्मत नहीं है, वे उक्त संयम में रहते हुए भी यथार्थ शास्त्रबोध के अभाव में विषयों के सम्बन्ध में रह रही प्राचीन कल्पना के द्वारा वश में कर लिए जाते हैं।

विशेष-धारणा ध्यान समाधि की उपयोगिता तत्त्वनिष्ठा में है शास्त्र ज्ञान की उपयोगिता तत्त्वबोध में है। विद्यावान् ही योग से प्रगति कर पाता है।

चिरसमर्जितदुर्मतिकर्मणा-
मपगमे सुमतिं श्रयते सुधीः।
अथ च नित्यनिमित्तभवैः कृतै-
रपकृतिः प्रतियाति परात्मनः।।३१४।।

जो लोग तत्त्वबोध की ओर अभिमुख भी नहीं होते थे अनेक जन्मों से संचित अज्ञाननिर्वाहक कर्मों से बँधे होते हैं। उन कर्मों के हटने पर ही कोई विवेकी अच्छी बुद्धि पर अपनी पकड़ बना पाता है। सद्बुद्धि आने के बाद तो नित्य नैमित्तिक कर्मों से ही परमात्मा के प्रति हुए अपराध (पाप) हठने लगते हैं।

सकलचेतनकर्म नियामको
हरिरशेषफलानुभवप्रियः।
स हि करोति मया करणात्मने-
त्यनुविदन् कुरुते स्वकृतीः सुधीः।।३१५।।

चौदह भुवनों के अन्दर सारे चेतन अपने कर्मफलों के जो जो अनुभव करते हैं वह सब परमात्मा को प्रिय होते हैं इससे वे सभी चेतनों के प्राचीन कर्मों को ऐसे सम्हाले रहते हैं जिससे किसी का कोई अनुभव छूट न जाये। पूर्व कर्मों से बँधा चेतन उनके फलों के अनुरूप ही कर्म किया करता है और अज्ञानवश अपने को कर्मों के प्रति स्वतन्त्र मान्य है। वास्तव में लोक में जैसे कोई व्यक्ति अपने पसन्द के कामों में अपने हाथ पैरों और मन बुद्धि इन्द्रियों

का उपयोग करता है वैसे ही परमात्मा लीलावश हमें प्राचीन कर्मों के अनुरूप चलाया करते हैं। विवेकी व्यक्ति उक्त तथ्य का बोध अपने हृदय में रखता हुआ ही नित्य, नैमित्तिक और आत्मकल्याण के असाधारण कर्म किया करता है।

वपुरिदं सकलेन्द्रियसुन्दरं
सकलबोधफलब्ध मनोऽमलम्।
हरिमुपेक्ष्य हतं हरिणीदृशा–
मनुगमेन यमेन ततः परम्।।३१६।।

यह मानव शरीर सूक्ष्मग्राही सभी ज्ञानकर्मेन्द्रियों के योग से बहुत ही उत्तम है। अन्य योनियों में इन्द्रिय गोलकों की स्थूलता के कारण सूक्ष्म अर्थों का ग्रहण न होने से विवेक नहीं हो पाता। अवश्य ही कुछ तिर्यग् योनियों में मानव की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म अर्थों की ग्रहण क्षमता पायी जाती है पर उनका अनुभव स्नायुतन्त्र की स्थूलता के कारण देरतक ठहर नहीं पाता। इसीसे वे मानव पर अपना शासन नहीं चला पाते। मानव मन शास्त्रों के सहयोग से सभी सूक्ष्म अर्थ पकड़ लेता है। शास्त्रबोध ही मानव की असाधारणता है। फिर भी प्रारब्ध के वशीभूत मानव सभी तत्त्वों के नियामक के रूप में मिल रहे परमात्मा की उपेक्षा किये रहता है और हरिणियों के से नेत्रों (कामिनियों) के पीछे चला रहता है इससे इसका शरीर और मन मारा जाता है, चरम पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है और जरा व्याधिक्रम से बाद में यमराज के द्वारा मारा जाता है।

न जननीमपहाय सुखी शिशु–
र्न तरुणीविरहे ध्रियते युवा।
गुणमयम्प्रियमीश्वरमस्मर–
न्न खलु जीवितुमिच्छति सज्जनः।।३१७।।

छोटा बच्चा माँ से अलग सुख से नहीं रह सकता। युवा पुरुष तरुणी के बिना नहीं रह सकता। इसी तरह वह सत्पुरुष जो सत् तत्त्व को समझ चुका है, फलतः वह उसी गुणमय प्रिय ईश्वर तत्त्व का हो चुका है, उसकी स्मृति के बिना जीना पसन्द नहीं करता।

त्यजत काम्यफला विहितक्रिय–
स्त्यजत नित्यसहेतुभवम्फलम्।
भगवतस्तु यदेव रसावह–
न्तदनुवेलमुदाचरत प्रियम्।।३१८।।

कर्मों के बारे मुमुक्षुओं को सही दृष्टि देते हुए कहते हैं कि उन कर्मों को न करो जो फल की इच्छा से ही किये जाते हैं। संसार का कोई भी फल चेतन के स्वरूप के अनुरूप न होने से मुमुक्षु को फल की इच्छा नहीं होती, इससे वह काम्य कर्मों का स्वरूपतः त्याग करता है। नित्य कर्म न करने से दोष लगता है, नैमित्तिक कर्म भी निमित्त आने पर नित्य की तरह अनिवार्य होते हैं, उनके न करने पर भी दोष लगता है, इससे नित्य नैमित्तिक कर्मों का त्याग नहीं होता। उन्हें सभी आश्रमों में शक्ति के अनुसार किया जाता है। ब्रह्मज्ञान हो चुकने पर भी यदि बाह्यार्थदृष्टि बनी हो तो वे कर्म किये जाते हैं, अन्यथा दोष लगता है। जिन्हें अनायास समाधि लगती है उन्हें भी नित्य नैमित्तिक कर्म का अवसर आने पर श्रद्धापूर्वक वही करना चाहिए। समाधि की अपेक्षा सन्ध्यावन्दन का महत्त्व इस कारण अधिक है कि उसमें कल्याणमय अनेक मन्त्रार्थों का मनन होता है। फलकामना रहित नित्य नैमित्तिक कर्मों से चित्त शुद्धि के द्वारा तत्त्वदर्शन होने लगता है और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। भगवद्धर्म कहे जाने वाले, भजन, स्मरण, ध्यान अर्चन प्रणाम आदि कर्म, तत्त्व से सीधा सम्बन्ध होने से भगवान् को निरतिशय प्रिय होते हैं, इससे मुमुक्षु को भी वे बहुत अच्छे लगते हैं। उनका सदा अनुष्ठान करते रहना चाहिए।

जगति यत्कुशलाकुशलात्मक–
म्भवति कर्म महल्लघु वा नृणाम्।
तदखिलम्भगवान् स्वमनीषित–
म्बहुफलाय करोति परः स्वयम्।।३१९।।

वास्तव में संसार में जितने भी शुभ–अशुभ छोटे–बड़े कर्म चेतनों के द्वारा होते देखे जाते हैं उन सब कर्मों के मुख्य कर्ता परमात्मा होते हैं, उनकी योजना वे बहुत पहले से बनाये होते हैं, उन कर्मों के फल भी बहुत दूरगामी होते हैं, उनका पिछला अनुबन्ध भी लम्बा होता है जिसका पता केवल भगवान् को होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखने वाला व्यक्ति अपने को कर्ता न मान कर केवल निमित्त मानता है, इससे शुभाशुभ फलों से बँधता नहीं है।

रतिफलाय नरः किल संगतो
जनयते तनयम्परमात्मना।
प्रकृतकर्मफलाय नियन्त्रित–
म्परपरम्परयापि च संगतम्।।३२०।।

उक्त तथ्य पर दृष्टान्त देते हैं कि पुरुष रतिफल सुख के लिए स्त्री से जुड़ता है, तब उस पुत्र को उत्पन्न करता है जो परमात्मा द्वारा अपने प्रारब्ध शुभ-अशुभ फलों के निमित्त के रूप में एवं भावी लम्बी पीढ़ियों के गुणसूत्रों के धारक माध्यम के रूप में बहुत पहले से संकल्पित रहता है। जो परमात्मतत्त्व बहुत पहले की और बहुत बाद की परम्परा का नियामक है वह चेतन के द्वारा जाने समझे भाग का भी नियामक होगा ही। वहाँ परमात्मा का अधिकर नहीं है ऐसा कैसा माना जा सकता। संसारी चेतनों की सीमित प्रज्ञा त्रिकाल की कल्पना पर चलता है किन्तु ईश्वर की दृष्टि में सारा काल घटनाओं के सहित केवल वर्तमान है और उनके पूर्ण नियन्त्रण में है। घटनाओं के फलभागी सारे चेतन, जड़ तत्त्वों के समान ही नियन्त्रण में रहते हुए गाड़ी के बैलों के समान आंशिक स्वतन्त्रता से अपनी ईश्वराधीनता भूले रहते हैं।

बहुलविघ्नमये खलु जीवने
प्रचुरकाममयः पुरुषोऽनिशम्।
प्रयतते लभते च फलाफले
भवति तत्तु हरेरखिलम्फलम्।।३२१।।

पुरुष का जीवन अनियन्त्रित विघ्नों से भरा होता है, उसकी इच्छायें भी असीम होती हैं, उसके बहुत से प्रयत्न विघ्नों से कटते रहते हैं, बचे कुछ ही प्रयत्न कुछ अंशों में सफल होते हैं, शेष विफल होते है किन्तु उसके सारे फल और अभु भगवान् के लिए पूरे फल होते हैं। भगवान् के लिए कोई विघ्न नहीं होता।

निजमनीषितलाभपरः पुमान्
प्रयतते लभते प्रथमार्जितम्।
अकलितं कलयाऽप्यशुभं शुभं
सहगतिं न तु वेत्ति हरेश्चिरम्।।३२२।।

पुरुष सदा ही अपने वांछित अर्थ पाने के लिए प्रयत्न करता रहता है किन्तु उसे वही मिलता है जो उसका पहले का कमाया शुभ या अशुभ होता है जिसे वह पहले से थोड़ा भी नहीं समझा होता है। इस पथ्य पर ध्यान जाने से वह अपने सारे प्रयत्नों में प्रभु की सहगामिता समझ सकता है किन्तु मोहवश समझ नहीं पाता।

शबलिता रजसा तमसा मतिः स्पृशति नैव सुवेद्यहिताहिते।
भगवतश्च नियोजकतां कृतौ भजति तेन मृषैव सुखासुखे।।३२३।।

मानव की बुद्धि रजोगुण और तमोगुण से मलिन होती है इससे वह उन हित-अहित क्रियाओं और भावों को नहीं पकड़ पाती जो आसानी से जाने जा सकते हैं। वह यह भी नहीं पकड़ पाती कि मेरे सारे क्रियाकलाप के प्रयोजक भगवान् हैं, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। इस अज्ञान के कारण ही वह झूठे सुखदुःखों के चक्कर में पड़ा रहता है।

भगवतः कृपया शुभकर्मणा
सुजनसंगमतोऽपि निसर्गतः।
भवति चेद् हृदि सत्त्वगुणोदय-
स्तदनुपश्यति देवदयाद्युतिम्।।३२४।।

भगवान् की कृपा से, किसी शुभ कर्म के प्रभाव से, सत्संग से या निसर्ग से ही जब किसी के हृदय में सत्त्वगुण का विकास होता है तब वह सदा यह अनुभव करता है कि प्रभु की दया सदा ही मेरे जीवन के साथ है। तब दया के भरोसे पर वह आत्मकल्याण में प्रवृत्त होता है।

यदि दयां नृहरेः दलयन् नरः
समनुपश्यति पापफलान्वयम्।
व्रजति चेच्छरणं गुरुणा हरिम्
भवभयाद् अचिरात् स वियुज्यते।।३२५।।

यदि कोई व्यक्ति मानवरूप से मिलते प्रभु की दया का अनुभव करता हुआ यह मानने लगता है कि पुराने पापों के फलों का अनादि सिलसिला जारी ही रहेगा, उससे छूटने का सामर्थ्य अपने में नहीं है, तब वह गुरु की सहायता से स्वरूपबोधपूर्वक प्रभु की शरणागत करता है, उनसे स्वरूपनिष्ठा की प्रार्थना करने लगता है जिससे पापों से छुटकारा हो, तब वह संसार के भय से शीघ्र छूट जाता है, तब स्वरूपनिष्ठा और सायुज्य मोक्ष सुलभ होता है।

निपतितोऽपि जघन्यगुणे भवे
जटिलकर्मकलापनियन्त्रितः।
हरिमनादृतबन्धमनंकुशे-
हितमुपेत्य गतिं गतिमाप्नुयात्।।३२६।।

यद्यपि चेतन तमोमय संसार में पड़ा है और जिससे छूटना सामान्य नियमों से असम्भव है ऐसी जटिल कर्म शृंखला से बँधा है फिर भी आश्रितकर्मकलाप का हरण करने वाले, चेतन के दृढ़ कर्मबन्धन को महत्त्व

न देने वाले, स्वच्छन्द संकल्प और प्रयत्नवाले प्रभु को आत्मरक्षा के उपाय के रूप में स्वीकार कर लेने से सभी बन्धनों से छूट कर उन्हें पा लेता है।

पुनरुदाह शुभार्थचयं हरि–
र्विशदमेव जयाय दयावशः।
सइह तर्कमहीमित (१६) पद्यगो
रसिकधीगगनेऽस्तु हिमद्युतिः।।३२७।।

दयामय भगवान् ने अपनी गीता के पूर्वोक्त अर्थों के विवरण में दुबारा विस्तार से कहा है, वही अर्थ यहाँ संक्षेप से १६ श्लोकों में प्रस्तुत हैं। वह अर्थसमूह रसिकजनों की बुद्धिरूपी गगन में चन्द्रमा के समान शान्ति सौख्य और प्रकाश बिखेरने वाला हो सकता है।

हरिपदे प्रकृतौ विपदाम्पदे
द्रुतविम्बितधीर्दुतधीहरेः।
गुणगणश्रवणे, ऽथ विलम्बते
जगति यः स चिरं रमतामिह।।३२८।।

पिछले श्लोक से ग्रन्थ की पूर्णता के बाद प्रस्तुत उपसंहार श्लोक से यह सूचित कर रहे हैं कि द्रुत बिलम्बित छन्दोमय इस ग्रन्थ में चिरकाल रुचि द्रुतविलम्बित छन्द (इच्छा) वाले अधिकारी की होगी। भगवान् के चरणों के प्रति तेज और संकटों के स्थान संसार में विलम्बित बुद्धिवाला जो व्यक्ति प्रभु के गुणगणों के श्रवण में शीघ्रता से प्रवृत्त होता है और संसार के प्रति मन्दता रखता है वह इस द्रुतविलम्बितपद्यमय निबन्ध में चिरकाल आनन्द ले सकता है।

द्रुतविलम्बितपद्यशतत्रयं
यदि परिष्कुरुते हृदयं वटोः।
मतिपटोः, स पुनाति जगत्त्रयं
हरिभरं लभते च दयापरम्।।३२९।।

उक्त तीन सौ द्रुविलम्बित पद्य यदि तत्परता से विद्यार्जन कर रहे कुशल बुद्धि विद्यार्थी बटु के हृदय को परिष्कृत करते हैं तो वह तीनों लोकों को पवित्र करता है और वह दयामय प्रभु को शीघ्र प्राप्त करता है।

विशेष-ग्रन्थ में श्लोक संख्या तीन सौ उनतीस है। उनमें १७ अनुष्टुप् छन्द अध्यायों के अन्त में हैं। ग्रन्थ के अन्त में तीन द्रुतविलम्बित उपसंहार रूप और आदि के नौ उपक्रमरूप हैं। शेष तीन सौ ही बचते हैं जो भगवद्गीता में प्रवेश के लिए रसमय सहायक हैं।

गीता गंगा